5-1 2nd copy

भगवान श्रीकृष्ण

और

शिवतत्त्व





म. म. पं.
गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

संपादक
शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

K.V

पूज्यपाद स्वामी प्रभु जी

को सादर समर्पित

— प्रो० [illegible]

१३-१-७१

भगवान् श्रीकृष्ण
और
शिवतत्त्व

महामहोपाध्याय
पं० श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक
डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
प्रवक्ता साहित्य
प्राच्य विद्या संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशक
किशोर विद्या निकेतन
भदैनी : वाराणसी
१९८१

प्रस्तुति : श्री गिरिधर साहित्यिक शोध संस्थान, वाराणसी

मूल्य : २५/-

प्रकाशक
नन्दकिशोर द्विवेदी
किशोर विद्या निकेतन
भदैनी, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक
स्पेशल प्रिंटर्स
लंका, वाराणसी

पुरोवाक्

"भगवान् श्रीकृष्ण और शिवतत्त्व" नामक प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी शताब्दी प्रकाशन" योजना का तृतीय प्रस्तुतीकरण है। इससे पूर्व "वैदिक वर्णव्यवस्था और श्राद्ध" तथा "भारतीय दर्शनों में आत्मा" नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आगामी प्रकाशनों में "प्रत्यालोचन" नामक बहुत महत्त्व का ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है, जिसमें पाठकों को प्रौढ़ शास्त्रीय विषयों की समालोचनाओं का आनन्द प्राप्त होगा। "छवि की किरणें" नामक हिन्दी कविता संग्रह भी शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अवतार और मूर्तिपूजा विषयों पर उस व्यापक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है जिसे वर्तमान संदर्भ में वैज्ञानिक दृष्टि कहा जा सकता है, जो कारणवाद पर आश्रित है। अवतार और मूर्तिपूजा मानवीय हृदय की चरम सफलता और सार्थकता रही है जिससे आगे निर्विकल्पक समाधि की भूमिका सुलभ होती है, जिसके लिए गीता में कहा गया है कि— "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"

भारतीय आर्ष प्रज्ञा ने सृष्टि के सबसे सूक्ष्म स्पन्दनों के कारण का प्रत्यक्ष साक्षात्कार निर्विकल्प समुन्मेषों में प्राप्त करके मन्त्रों में सुलभ किया। वह शब्द राशि निर्माण के अणुतम दोष से भी सर्वथा असंस्पृष्ट नित्य निर्मल जगत् कारण परब्रह्म का श्वास प्रवाह है। सहस्रों वर्षों की कालावधि की निर्विकल्प स्थितियों के उपरान्त उसका दर्शन ऋषियों ने प्राप्त किया, जिसके विवरण पुराणों में सुलभ हैं।

समस्त संसार श्रीकृष्ण और शिव का आराधक है। इनकी समस्त कथायें और स्वरूप सृष्टि के भूत, वर्तमान, भविष्य के रहस्यों को समेटने वाले तत्त्वों से ओतप्रोत हैं। प्रस्तुत विषय महामनीषि लेखक स्वर्गीय पूज्य पितृचरण के अनेक लेखों के रूप में अनेकत्र अनेकधा प्रकाशित होकर बहुर्चचित हो चुके हैं। उनका पुस्तक रूप में यहाँ प्रस्तुतीकरण पाठकों को निश्चित ही लाभान्वित करेगा।

'किशोर विद्या निकेतन' के संचालक महाशय को धन्यवाद देना कर्त्तव्य कोटि में आता है। उनके सत्प्रयत्न, परामर्श और उत्साह से यह साहित्य प्रकाश में आ रहा है। विश्वास है कि अन्य ग्रन्थों के समान ही इस ग्रन्थ पर भी पाठक महानुभावों की अनुकूल प्रतिक्रिया होगी।

विनीत

दीपावली—१९८०　　—शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

सरणी

—:०:—

भगवान् श्रीकृष्ण

—:o:—

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—'श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् भगवान् परमेश्वर परब्रह्म हैं'—यह अटल विश्वास है। श्रीकृष्णचरण से ही भक्तिमन्दाकिनी का सुधानिझंर प्रवाहित होकर शान्तिमय प्रवाह से सम्पूर्ण जगत् को आप्लावित करता हुआ ब्रह्माण्ड को वेष्टित कर वहीं पहुँचकर लीन होता है, जिसमें डूबकर मानव समाज सदा से अपने आपको सफलजन्मा कृतकृत्य बनाता आया और आज भी बना रहा है। कृष्णलीला भक्त-जगत् का सर्वस्व है। उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ध्यान और अनुकरण में प्रलीन भक्तचित्त को तर्क, वितर्क कुतर्कका अवकाश ही नहीं मिलता। उस आनन्दस्रोत में जिन्होंने अपने आप को बहा दिया है, उनके आगे तर्क के तिनकों की कदर ही क्या है। भक्तिरत्नमञ्च के सामने विज्ञान-दर्पण क्या प्रतिष्ठा रख सकता है।

तथापि अपने-अपने अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न जिज्ञासु जन की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति होती है। बहुत से जिज्ञासु जन प्रतिकूल तर्कों के आघात से विकल होकर ईंटका जवाब पत्थर से चाहते हैं, बहुत से अपनी बुद्धिको सन्तुष्ट करने के लिए प्रत्येक विचार या कर्तव्य को वैज्ञानिक भित्ति पर ही खड़ा रखना चाहते हैं, किसी को प्रत्येक बात की तह में आध्यात्मिक चासनी का चसका है, तो कोई प्रत्येक विचार को विज्ञान के मसाले से चटपटा बनाना चाहता है। किन्तु आश्चर्य यह है कि इनकी सबकी ही इच्छा श्रीकृष्णलीला में पूरी हो जाती है। उसे जिस दृष्टि से देखा जाय, उसी दृष्टि से परिपूर्णता ही मिलती है। किसी अधिकारी को वहाँ निराशा की चट्टान से टकराना नहीं पड़ता।

वर्तमान में विशेष प्रकार के जिज्ञासुओं के लिए श्रीकृष्णावतार और उनके चरित्रों पर यहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से संक्षेप में विचार किया जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा अभिप्राय उस दृष्टि से है जिसमें केवल श्रद्धा ही

अवलम्ब न हो, शास्त्र के वाक्य ही एकमात्र आधार न हों, किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभव का भी जिसमें सहारा लिया जा सके, तर्क के कर्कश प्रहार भी जहाँ कुण्ठित होते जाँय; प्रथमाधिकारियों की बुद्धि भी जिससे विकसित होती जाय, और इस प्रकार सब लोग जिससे लाभ उठा सकें।

मन और बुद्धि से अगम्य निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व में बुद्धि का प्रवेश कराने के जितने उपाय शास्त्रों में निर्धारित हुए हैं, उनमें 'अवतारवाद' सबसे उत्तम कहा जा सकता है। निर्विशेष ब्रह्म जब मन में नहीं आ सकता तो उसकी उपासना भी नहीं हो सकती। इसलिए शास्त्र निषेधरूप से, उपलक्षणरूप से या आरोपरूप से उपासना के भिन्न-भिन्न प्रकार बतलाता है। प्रत्यक्ष देखे जाने वाले पदार्थों में परमेश्वर के लक्षण देखकर उन्हें आलम्बन मानकर ब्रह्मभाव से उपासना करना सब अधिकारियों के लिए उपयोगी है, अतएव वह श्रेष्ठ प्रकार है। उनमें भी चेतन में, विशेषकर मनुष्यरूप में ब्रह्मदृष्टि उपासना का अत्यन्त उपयोगी साधन है, क्योंकि उपासक मनुष्य का मन अपने सजातीय में विशेषरूप से प्रेम करे, यह प्रकृतिसिद्ध नियम है और प्रेम द्वारा चित्त की स्थिरता अति सुकर है। यही अवतारोपासना है। इस उपासना की सिद्धि के लिये ही परम दयासागर परमेश्वर अपने आपको चेतनरूप में विशेषतः मनुष्यरूप में प्रकट करता है। और ईश्वर के अनन्य प्रेमी ज्ञानवान् महात्मा शास्त्रोक्त परमेश्वर-लक्षणों की प्रकटता देखकर परमेश्वररूप से उसकी उपासना करने लगते हैं, उसे ही परब्रह्म का प्रकटरूप मानते हैं, यही अवतारवाद है। यह अवतारवाद सनातनधर्म का प्राण और उपासना का सर्वस्व कहा जा सकता है। मानुष अवतारों में भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णावतार या साक्षात् परमेश्वर परब्रह्म कहे गये हैं, क्योंकि उनमें परमेश्वर के समस्त लक्षण पूर्णतया प्रकट हुए हैं। इसी पर विचार किया जाय कि परमेश्वर के कौन-से लक्षण हैं और वे भगवान् श्रीकृष्ण में किस रूप में पाये गये हैं।

*

त्रिपुरुष विज्ञान

भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में अपने आपको अव्यय आत्मा कहा है—

> 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
> प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

इसी अव्ययात्म-स्वरूप का आगे पन्द्रहवें अध्याय में विशेष रूपसे स्पष्टीकरण है—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
> परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
> यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
> अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

'लोक में दो पुरुष हैं—एक क्षर दूसरा अक्षर । इन्द्रियों से जो जाने जाते हैं वे सब भूत क्षर हैं, उनमें कूटस्थ, नित्यरूप से रहनेवाला, विकृत न होनेवाला पुरुष अक्षर कहा जाता है । वह अक्षरपुरुष भी अव्यक्त है, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य नहीं, किन्तु उससे भी पर अन्य एक अव्यक्त नित्यभाव है, जो तीन लोकों में प्रविष्ट होकर उनका धारण कर रहा है, उसे अव्यय या ईश्वर कहते हैं । मैं क्षर से परे हूं, और अक्षर से भी उत्तम हूं, इसलिये अव्यय पुरुषस्वरूप मैं लोक में और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिध्द हूँ,' यह उक्त श्लोकों का तात्पर्य है । इन तीनों पुरुषों का विवेचन ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है ।

पुरुष का अर्थ है पुर में रहने वाला । जगत् में जो पञ्चभूतात्मक मूर्तियां दिखाई देती हैं, वे पुर हैं । हम पुरों को ही देखते हैं, किन्तु यदि इनका उपादानकारण 'पुरुष' इनके भीतर न रहे तो ये पुर ठहर ही नहीं सकते । उदाहरण के लिये—दीपक एक पुर है, उसमें तैल पुरुष है यदि तैल

प्रतिक्षण उसे बनाता न रहे तो दीपक कभी का गायब हो जाय। वृक्षों में रस यदि न हो, तो वृक्ष कभी के सूख जांय, ठहर ही न सकें, तभी तो रस की स्थिरताके लिये उनकी जड़ में बार-बार जल देना पड़ता है। ऐसे ही हमारे शरीरों की रक्षा के लिये अन्न-जलादि की आवश्यकता होती है, वे ही अन्न-जलादि रस रुधिर आदि रूप में परिणत होकर शरीरों को स्थिर रखते हैं। यही मिट्टी पत्थर आदि जगत् के समस्त पदार्थों की गति है। तात्पर्य यह कि जगत् के सब पदार्थों की स्थिति 'यज्ञ' पर निर्भर है।

'यज्ञ' पाँच प्रकार की क्रियाका नाम है—आदान, अर्पण, उत्सर्ग, भैषज्य और विकास। अन्य वस्तुओं में से अपना अन्न लेकर उसे अपने स्वरूप में प्रविष्ट कर लेना आदान कहा जाता है, जैसा कि हम लोग वृक्ष ओषधि नदी आदिसे फल, अन्न, जल आदि लेकर उससे अपने स्वरूपकी रक्षा करते हैं, वृक्ष जल लेते हैं, दीपक तैल लेता है आदि। इसके विरुद्ध अपने स्वरूप में से कुछ पदार्थ दूसरे की रक्षा के लिये अन्नरूप से देना अर्पण कहलाता है—जैसे दीपक प्रकाश देता है, वृक्ष पुष्प फल आदि देते हैं। यही दान यदि किसी व्यक्तिविशेष को लक्ष्य कर न हो किन्तु विश्वात्मा के लिये आत्मसमर्पण हो तो उसे उत्सर्ग कहते हैं, जैसा कि वृक्ष, लता आदि अपने पुष्पों का गन्ध वायु में देकर जगत् के उपकार में लगा देते हैं, वृक्ष अपने बीज द्वारा एक नया वृक्ष उत्पन्न कर जगत् को दे देता है, प्राणी अपने शरीर के भागसे सन्तान उत्पन्न कर जगत् को अर्पण कर देता है। अब जो अन्न लिया गया है, वह अर्क, प्राण आदि अवस्थाओं को प्राप्त होकर उस-उस वस्तु की क्षीण होती हुई केन्द्रशक्ति (प्रजापति) को जो आप्यायित करता रहता है—वह भैषज्यक्रिया है। और उस अन्न के द्वारा किसी नियत परिमाण तक जो उस वस्तु की वृद्धि होती है, वह विकास समझा जाता है। उदाहरणार्थ वृक्षों का या प्राणिशरीरों का अपनी-अपनी मात्रा तक बढ़ना, विद्या पढ़ने से बुद्धि का विकास होना आदि। यह यज्ञ बराबर सर्वत्र होता रहता है, इसी प्राकृत यज्ञ के आधार पर हमारे धार्मिक यज्ञ भी अवलम्बित हैं। यद्यपि जड़ वस्तु मिट्टी, पत्थर आदि में ये क्रियाएं स्पष्ट रूप से नहीं देखी जातीं, किन्तु अनुमान से माननी अवश्य पड़ती हैं, तभी तो ये जड़ वस्तुएँ भी क्रम-क्रम से पुरानी होती हैं, या कालक्रम से निर्जीव हो जाती हैं। अर्पण की अपेक्षा आदान का

अधिक होना जैसे वृद्धि का कारण है, वैसे ही आदान की अपेक्षा अर्पण का अधिक होना ह्रास या क्षीणता का हेतु है। आदान-प्रदान न हो, तो वह वस्तु सदा के लिये एकरूप रहे। किन्तु ऐसी कोई वस्तु संसार में नहीं है। अतः जड-वस्तुओं में भी आदान-प्रदान अवश्य है। सभी वस्तुएं सूर्य से प्रकाश लेती हैं, मेघों से जल लेती हैं, पृथिवी से जीवन लेती हैं, और अपना-अपना भाग यथोचित सूर्य, वायु, पृथिवी आदि को देती भी हैं। लोहे पर जंग लग जाना, पानी पर झाग आना, पत्थर पर पपड़ी उतरना, मिट्टी का सड़ना आदि आदान-प्रदान के स्फुट उदाहरण हैं। यह यज्ञ जिन पर होता है अर्थात् यज्ञद्वारों पर भिन्न-भिन्न पदार्थों के उपादान जो बनते रहते हैं वे क्षरपुरुष हैं। वे स्वयं क्षीण होकर पुरों को बनाते हैं, उनका रूप परिवर्तन होता है इसलिये उन्हें क्षर कहा जाता है। जो उस यज्ञ क्रिया के प्रवर्तक हैं, जिनकी प्रेरणा से यज्ञ क्रिया होती है, जो क्षर पुरुषों का परिणाम कराते हैं, वे अक्षर-पुरुष हैं। ये परिणाम में निमित्तकारण मात्र हैं, स्वयं विकृत नहीं होते—इसलिये इन्हें अक्षर-पुरुष कहा जाता है। ये परिणामी पदार्थ, परिणामरूप यज्ञ क्रिया और परिणाम के निमित्त-सब जिसके आश्रित हैं-वह सर्वाधार, कार्य-कारण शून्य निर्विकार अव्यय पुरुष कहा गया है।

इन तीनों पुरुषों को सृष्ट, प्रविष्ट और विविक्त-शब्दों से भी कहते हैं। क्षर-पुरुष की ही भिन्न-भिन्न रूप से सृष्टि होती है, इसलिये वह सृष्ट है, अक्षर उसमें प्रविष्ट और अव्यय विविक्त अर्थात् सब में रहता हुआ भी सबसे पृथक् रहने वाला है। इस विषय को और थोड़ा स्पष्ट करने के लिए ऊपर से नीचे की ओर ध्यान दें। इस सब परिवर्तनशील, विकारी, अनित्य, परस्पर भिन्न पदार्थों के समूहरूप जगत् का एक नित्य मूल आवश्य है, यह श्रुति ने निश्चय किया है। इसके अनुकूल तर्क भी श्रुति उपस्थित करती है और अनुभव के प्रकार बतलाती है। विकार, गुण, धर्म—ये सब जगत् के अन्तर्गत हैं, इसलिये अव्यय पुरुष में इनका होना सम्भव नहीं। अतएव वह तत्त्व इन्द्रियातीत, मनोवागतीत सत् मात्र, निर्विशेष, कहा जाता है। यद्यपि निर्धर्मक निर्गुण होने से उसका कोई नाम नहीं हो सकता तथापि व्यवहार के लिये उसे शुद्ध ब्रह्म, निर्विशेष या रस कहा करते हैं। इस रस की जो शक्ति सम्पूर्ण

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कारण बनती है, उसे बल शब्द से कहा जाता है। बल की तीन दशाएं हैं, जब तक वह प्रकट नहीं होता उस अव्यक्त या प्रसुप्त-दशा में उस बल कहेंगे, जब वह कार्य करने को प्रस्तुत हो, तब प्राण कहलावेगा और कार्य रूप में जाकर विकासोन्मुख होने की दशा में उसे ही क्रिया कहेंगे। बल की अविवक्षा में शुद्ध रस का निर्विशेष शब्द से व्यवहार है और प्रसुप्त दशा वाले बल सहित रस का 'परात्पर' शब्द से कथन है। ये दोनों विश्वातीत हैं, सृष्टि में ये कोई भाग नहीं ले सकते, न इनका कोई लक्षण कहा जा सकता है। जब वह बल जागरित या कार्योन्मुख होता है, तो सबसे प्रथम असीम रस में सीमा—परिच्छेद (लिमिट) बनाता है, क्योंकि वह (बल) स्वयं परिच्छिन्न और अनित्य है, अतः जहां वह रहेगा उस रस को भी परिच्छिन्न रूप में दिखावेगा, जैसा घट, मठ आदि असीम आकाश को परिच्छिन्न रूप में दिखाते है। अमित रस का माप (परिच्छेद, सीमा) यह बल कर देता है, इसीलिये इसे 'माया' (मानका कारण) कहा जाता है। असीम का ससीम से सम्बन्ध ही कैसे बना ? निर्विकार, शुद्ध एक रस में विकारी, परिच्छिन्न, अनेक बल आये कहां से ? इत्यादि बातें बुद्धि के द्वारा आगम्य हैं। इसलिए इस बल या माया को अनिर्वचनीय कहना पडता है। माया द्वारा सीमा बद्ध होने पर, मायाविशिष्ट रस का नाम 'अव्यय पुरुष' होता है। अव्यय पुरुष में यद्यपि बल द्वारा परिच्छेद हो गया है, किन्तु 'ग्रन्थि' नहीं है, बल इसे बन्धन में न ले सका, इसलिये यह सृष्टिका उपादान या निमित्त नहीं बनता, केवल आलम्बन मात्र रहता है। विकारात्मक सृष्टिसे यह परे ही रहता है, इसलिये इसे पर पुरुष-या पुरुषोत्तम कहते हैं।

अर्वाचीन वेदान्त-ग्रन्थों में इसे 'माया शवलित ब्रह्म' कहा गया है, और पञ्चदशीकारने संसाररूपी चित्र के लिये घट्टित (चावल आदि के द्वारा चिकनाया हुआ) पट इसे बताया है। इस में दो भाग हैं जिन्हें रस और बल, ज्ञान और कर्म वा अमृत और मृत्यु कहते हैं। इसी अव्यय पुरुष का वर्णन यह श्रुति करती है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।
(श्वेताश्वतर)

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः'

इत्यादि भगवद्गीता-वाक्यका भी यही प्रतिपाद्य है ।

बल के द्वारा परिच्छेद होने पर परिच्छिन्न वस्तु का एक केन्द्र भी अवश्य बन जाता है । उस केन्द्र में इच्छाशक्ति उत्पन्न होती है, जिसे श्रुति ने 'एकोऽहं बहुस्याम्' (मैं एक ही बहुत रूपों में प्रकट हो जाऊं, सृष्टि करूं) इन शब्दों में कहा है । इस इच्छाशक्ति के द्वारा माया बल पर काम, तप और श्रम नाम के तीन बल पुनः उत्पन्न होते हैं, जिन्हें श्रुतिने 'सोऽकामयत', 'सोऽश्राम्यत्', 'स तपोऽतप्यत्' इन शब्दों मे स्थान स्थान पर प्रकट किया है । इस प्रकार बल[1] पर बल की चिति (चिनाई) आरम्भ होती है । यद्यपि प्रत्येक बल क्षणिक है, एक बल दूसरे का आधार बन नहीं सकता, किन्तु स्थिर रस के आश्रय से धारावाही होकर वह स्थिर सा बन जाता है, और इस प्रकार बलों पर बलों की चिति सम्भव हो जाती है । बल के संसर्ग का नाम ही सृष्टि है । संसृष्टि के 'सं' का लोप कर देने पर 'सृष्टि' शब्द बनता है । इस चिति के द्वारा निष्कल अव्यय पुरुष में पांच कलाएं प्रकट हो जातीं हैं, इच्छाशक्ति होते ही इसका नाम मन[2] हो गया है, चिति के कारण इसी मन को 'चिदात्मा' भी कहा गया है । चिति दो प्रकार की होती है, अन्तश्चिति जो सृष्टि की ओर प्रवृत्त करनें वाली है । जिसके द्वारा काम का प्राबल्य होकर रस का आवरण हो जाता है उसे बहिश्चिति कहते हैं । यह 'ग्रन्थि' डालने वाली चिति हैं । जिसके द्वारा कर्मग्रन्थि खुलती जाय, कर्म लीन होता जाय और रस का विकास होता जाय, वह अन्तश्चिति है ।

१—जैसे मकान बनाने में ईंट-पर-ईंट या पत्थर-पर-पत्थर रखकर चिति चिनाई की जाती है, उसी प्रकार बल की चिति होती है । ऊपर नीचे जमाना ही 'चिति' शब्द का अर्थ है ।

२—इन्द्रियों में जिस मन की गणना है, भूतात्मा रूप जो मन है वह इससे पृथक् है ।

गांठ लगना और गांठ खुलना-दोनों कर्म के ही फल हैं, अतः दोनों चिति बलकी ही हैं। बहिश्चिति सृष्टि का कारण बनती है, और अन्तश्चिति मुक्ति का। वहिश्चिति से प्राण और वाक्-ये दो कलाएं प्रकट होती हैं और अन्तश्चिति से विज्ञान और आनन्द का विकास होता है। इस प्रकार आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् पांच कलाएं अव्यय पुरुष की सिद्ध होती हैं। इन्हें ही तैत्तिरीय-उपनिषद् में पांच कोश बताया है। वाक् का नाम वहां 'अन्न' आता है अन्य सब नाम यथाक्रम ये ही हैं। कोश— अर्थात् निधान-खजाना। जो अक्षर, क्षर, पुर आदि आगे बनने वाले हैं—उनका आलम्बन-निधान—खजाना ये ही अव्यय पुरुष की पांच कलाएं हैं, इनके बिना जगत् की सृष्टि या स्थिति नहीं हो सकती।

जो पदार्थ परिच्छिन्न—सीमा बद्ध होता है, वह अपूर्ण समझा जाता है, और अपूर्ण की प्रवृत्ति पूर्ण होने की ओर रहती है, यह स्वाभाविक है। पूर्ण ही अपूर्ण बना है, इसलिये विज्ञानानुमोदित आकर्षण[१]-सिद्धान्त के अनुसार वह अपनी पूर्ण दशा में ही जाना चाहता है। अव्यय पुरुष ज्ञान (रस) और कर्म (बल) उभयात्मक है, यह कहा जा चुका है, अतः रस रूप से यद्यपि वह पूर्ण है, किन्तु बलरूप से सीमाबद्ध है। वह पूर्ण रूप में जाना चाहता है। क्योंकि उसका भी विकास पूर्ण से ही हुआ है, पूर्ण होने के लिये यह आवश्यक है कि जो अपने से भिन्न हैं, उन्हें अपने में लिया जाय, उन को अन्न बनाया जाय, उनका 'अशन' किया जाय। इस प्रवृत्ति का हेतु जो बल होता है, उसे श्रुति में 'अशनाया' बल कहा गया है।

'मृत्युनैवेदमावृतमासीत् अशनायया, अशनाया हि मृत्युः।'
(बृहदारण्यक)

इत्यादि श्रुति में सृष्टि के आरम्भ में इसी अशनाया बल की स्थिति बतलाई गई है। मरणधर्मा होने कारण बल का नाम मृत्यु भी है— यह

१—जो जिसमें से निकला हो, अवयव हो, वह अपने घन की ओर गति रक्खे—यह आकर्षण-सिद्धान्त है। जैसे मिट्टी का ढेला पृथिवी की ओर आप का विकार भू अन्तरिक्ष की ओर तेज की सूर्य की ओर स्वाभाविक गति है।

कहा जा चुका है। अशनाया बल दूसरे बलों पर आक्रमण कर उन्हें अपनी ओर ले लेता है, यह आदान के साथ ही निष्क्रमण, विसर्ग भी प्रारम्भ हो जाता है। ये आदान और विसर्ग अनवच्छिन्न, निरन्तर रूप में चलें, तो किसी पदार्थ की स्थिति ही न बन सके, इसलिये साथ ही 'प्रतिष्ठा' बल भी रहता है जो आदान, विसर्ग होते हुए भी वस्तु की सत्ता रखता है। ये सब अव्यय पुरुष को 'प्राण' कलाको आलम्बन बनाकर प्रकट होती हैं, और ये ही 'अक्षर' पुरुष कहे जाते हैं। अक्षर पुरुष यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से बल प्रधान, बलात्मक है, किन्तु बिना रस के आधार के बल की स्थिति ही नहीं, इसलिये रसात्मक अव्यय पुरुष इसमें अनुस्यूत (भीतर घुसा हुआ) है, वही इन बलों का आधार है, इसलिये अक्षर भी पुरुष होते हैं। इस अक्षर पुरुष की पाँच कलाएं हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र,[१] अग्नि और सोम। पूर्वोक्त प्रतिष्ठा बल से आच्छन्न रस नाम ब्रह्मा का है, आदान (यज्ञ) बल-वाला विष्णु और उत्क्रान्ति बल-वालाइन्द्रकहा जाता है। जब आदान बल दूसरे बलों को अपनी ओर लेता है, तोवहाँ अन्नाद भाव हो जाता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु के अन्तर्गत हो जाती है, जो अन्तर्गत होती है, वह अन्न, और जिसके अन्तर्गत होती है, वह अन्नाद कहा जाता है। अन्न को सोम और अन्नाद को अग्नि कहते हैं। इन पाँच देवताओं के हो अवान्तर भेदों में सब देवता अन्तर्गत होते हैं। श्रुति में कहा गया है—

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियतः संविशन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युङ्क्ते देवाः सर्वं एकीभवन्ति॥

इन पाँच कलाओं में ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र—ये तीन हृद्य कहलाते हैं, और अग्नि, सोम बाह्य कहे जाते हैं। जैसे अव्यय की प्राण कला में अक्षर-पुरुष का विकास हुआ है, ऐसे ही अक्षर की ये अग्नि और सोम नाम की दो कलाएँ क्षर-पुरुष-बाह्यपिण्ड—भूतात्मा को बनाने में प्रधान भाग लेती हैं। शक्तिरूप अक्षर पुरुष से ही भूतरूप क्षर विकसित होता है, प्राण ही 'रयि' का उत्पादक है, फोर्स ही मैटर बनाती है, यह वैदिक सिद्धान्त है। श्रुति में स्पष्ट कहा है—

"अर्धो वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्"

१—पौराणिक भाषा में इन्द्र के स्थान में रुद्र कहा गया है।

अक्षर-पुरुषरूप प्रजापति का अर्धभाग मर्त्य—क्षर होता है और अर्ध अमृत—अपने रूप में रहता है। इस क्षर पुरुष का आलम्बन अव्यय की पाँचवीं कला 'वाक्' है। इसीलिये समस्त भूनों को श्रुति 'वाक्' ही कहती है—

"अथो वागेवेदं सर्वम्"

क्षर-पुरुष की भी पाँच कलाएं हैं, किन्तु क्षर-पुरुष ही सम्पूर्ण सृष्टि का उपादान है, अतः वह अनेक भावों में देखा जाता है। प्रत्येक भाव में उसकी पाँच-पाँच कलाओं के पृथक्-पृथक् नाम हैं। अमृत क्षर की कलाओं के अक्षर वाले ही नाम रहते हैं ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, वायु। मर्त्य क्षर वा विकार क्षर दशा में इन पांचों से क्रमशः प्राण, आप्, वाक् अन्न और अन्नाद—इन पांच कलाओं का विकास होता है।

वेदान्त की पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार इन पांचों मर्त्य-क्षरों का पञ्चीकरणात्मक यज्ञ होता है, अर्थात् ये पांचों परस्पर मिलाये जाते हैं, जिनमें आधा भाग प्रधान का और आधे में शेष चार होते हैं। इसी पञ्चीकरणक्रिया से पिण्डों की उत्पत्ति होती है। जिसमें आधा भाग प्राण का—और आधे में समान मात्रा में आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद चारों हों—वह प्राण-प्रधान 'स्वयम्भू' मण्डल कहा जाता है। जिसमें आधा भाग 'अप्' का और आधे में समान मात्रा में प्राण, वाक्, अन्न और अन्नाद चारों हों—वह अप्-प्रधान 'परमेष्ठी' मण्डल बनता है। इसी प्रकार वाक् प्रधान 'इन्द्र' (सूर्य) मण्डल, अन्नप्रधान 'चन्द्र' मण्डल और अन्नादप्रधान 'पृथिवी' मण्डल—पूर्वोक्त पञ्चीकरण की प्रक्रिया से बनते हैं। इस प्रकार यज्ञ-क्षर की पांच कलाएं स्वयम्भू, परमेष्ठी, इन्द्र (सूर्य), चन्द्रमा और पृथिवी नाम से कही जाती हैं। इसे ही लोकसृष्टि या भुवनसृष्टि कहते हैं। इसका विवरण मनुस्मृति के आरम्भ में ही इन श्लोकों में है—

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
आप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं[1] सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रम्हा[2] सर्वलोकपितामहः ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम[3] दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥

इनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व की व्याप्ति में उत्पन्न होता है, और पूर्व से ही आबद्ध, उसके वश में रहता है। चन्द्रमा पृथिवी की व्याप्ति के अन्तर्गत है और पृथिवी से बद्ध है, इसी के चारों ओर घूमता है। पृथिवी सूर्य से बद्ध है। सूर्य परमेष्ठी (इस नाम के मण्डल) से बद्ध है, उसकी व्याप्ति में है, उसके चारों ओर घूमता है और परमेष्ठी भी स्वयम्भूमण्डल से बद्ध है, उसके चारों ओर घूमता है। ये पांचों मण्डल विश्व की एक 'वल्शा' (शाखा) कही जाती है। ऐसी अनन्त शाखाएं अनन्त आकाश में परिव्याप्त हैं। इन पांचों क्षरमण्डलों में एक-एक अक्षर प्राण की प्रधानता है, इसलिये ये उन (अक्षर) नामों से भी कहे जाते हैं। स्वयम्भू में ब्रह्मा, परमेष्ठी में विष्णु, सूर्य में इन्द्र, पृथिवी में अग्नि और चन्द्रमा में सोम प्रधान है। अतएव इन मण्डलों को क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम नाम से भी कहा जाता है। इनमें पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो अन्तरिक्ष है, उसमें रहने वाला चन्द्रमा मण्डलों की संख्या में ले लिया गया है, किन्तु सूर्य और परमेष्ठी के मध्य के अन्तरिक्ष के ब्रह्मणस्पति, वरुण आदि मण्डल या परमेष्ठी और सूर्य के मध्य के अन्तरिक्ष के विश्वकर्मा आदि का मण्डल पृथक् नहीं गिने गये हैं, क्योंकि उनसे

१—यह हैम-अण्ड ही सूर्य है, इस मण्डल में 'इन्द्र, ही की प्रधानता है—'यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी, जैसे पृथवी में अग्नि व्याप्त है, वैसे सूर्यमण्डल में इन्द्र-प्राण व्याप्त है।

२—ब्रह्मा सूर्यमण्डलस्थ प्रजापति है।

३—व्योम—अन्तरिक्षस्थ चन्द्रमा है।

हमारा (इस पृथिवी, का) साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यदि उन दोनों अन्तरिक्षों की भी गणना कर ली जाय तो सात लोक हो जाते हैं जो कि भूः, भुवः, स्व, महः, जनः, तपः, सत्यम् इन नामों से प्रसिद्ध हैं। भूः—पृथिवी, भुवः—अन्तरिक्ष, स्वः—द्युलोक—सूर्य, महः—अन्तरिक्ष (दूसरा), जनः—परमेष्ठी, तपः—अन्तरिक्ष (तीसरा), सत्यम्—स्वयम्भू। इनमें तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष और तीन दिव (द्युलोक) हैं, किन्तु दो जगह दिव और पृथिवी एकरूप हो जाते हैं, इसलिए सात ही लोक रहते हैं। जैसे हमारी पृथिवी की अपेक्षा सूर्य दिव है, किन्तु उसे पृथिवी मानकर परमेष्ठी दिव बनता है और परमेष्ठी को पृथिवी मानकर स्वयम्भू दिव होता है, यों सूर्य और परमेष्ठी पृथिवी रूप भी होते हैं और दिवरूप भी। अन्तरिक्ष तीनों पृथक्-पृथक् रहते हैं। इसी आशय से श्रुति में तीन पृथिवी और तीन द्युलोकों का कई जगह उल्लेख हुआ है—

'तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेकः'
'तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्।
तिस्र भूमिरुपरा षड्विधाः।'

ये स्वयम्भू आदि पांच 'यज्ञ-क्षर' वा 'अधिदैवत-क्षर' कहे जाते हैं। इन से क्रम से 'आध्यात्मिक-क्षर' होते हैं—इनके नाम अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर हैं। यहां शरीरपद से स्थूल-शरीर लिया गया है। प्रज्ञान इन्द्रिय सहित मन का नाम है. विज्ञान बुद्धि को कहते हैं, महान् तीन प्रकार का है—आकृतिमहान्, प्रकृतिमहान् और अहंकृतिमहान्। पहले के अनुसार प्रत्येक प्राणी का आकार (अवयवसंनिवेश, छोटा-बड़ापन आदि) होता है, जैसा कि श्रीभगवद्गीता में कहा है—

सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

दूसरे के अनुसार प्रत्येक प्राणी की प्रकृति (आदत) होती है, तीसरा अहंकाररूप है। ये तीनों (प्रज्ञान, विज्ञान और महान्) मिलकर सूक्ष्म शरीर कहे जाते हैं। अव्यक्त-कारण शरीर है, जिसमें से दोनों शरीरों का विकास है। इन पांचों आध्यात्मिक क्षरों की समष्टि उक्त पांचों

आधिदैविक क्षर हैं, उन पांचों मण्डलों के 'रस' से क्रम से ये पांचों उत्पन्न होते हैं। आध्यात्मिक क्षर की कलाएं दूसरी प्रक्रिया से भी कहीं-कहीं उल्लिखित हुई है। बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त। बीजचिति--कारण-शरीर है, देवचिति--सूक्ष्मशरीर, भूतचिति-स्थूल शरीर, प्रजा-पुत्रादि और वित्त-सम्पत्ति। इस प्रक्रिया में क्षर आत्मा जहां तक है, उन सब बाह्य पदार्थों का भी संग्रह हो जाता है। मतान्तर में उन्हें 'पशु' शब्द से कहा गया है, पुरुषों की गणना में नहीं लिया गया।

सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण क्षर पुरुष, इसमें अव्यक्तरूप से रह कर शक्तिविशेष रूप से उसे चलाने वाला निमित्त कारण अक्षर पुरुष और दोनों का आलंबन कार्यकारणातीत अव्यय पुरुष कहा जाता है। यद्यपि अव्यय-पुरुष सृष्टि में कोई काम नहीं करता, वह निर्विकार निष्क्रिय है, किन्तु वह रसमय है, उसी का रस अक्षर क्षर दोनों में अनुस्यूत हैं, उस रस का आश्रय न हो, तो शक्तिरूप अक्षर पुरुष या उससे उत्पन्न क्षर-पुरुष ठहर ही न सकें. इसलिये सम्बन्ध के कारण अव्यय-पुरुष ही सब सृष्टि का मूल कहा जाता है। उछल-कूद सब कुछ लहरों की ही है, लहरें ही फेन आदि बनती हैं, किन्तु आधारभूत जल न हो तो लहरें रहें किस पर। जल को धारण करने वाला जल ही है, किन्तु आकाश न हो, तो घट और जल दोनों ही कहां रहें ? अतएव केवल अव्यक्त (अक्षर) से सृष्टि माननेवाले सांख्यवादियों को भगवद्गीता में फटकार बतलायी गई है--

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

निर्बुद्धि लोग मुझे (परमतत्त्व, परमात्माको) अव्यक्त (अक्षर शक्ति-विशेष) रूप कहते हैं और अव्यक्त की ही व्यक्ति (प्रकटता) को जगत् मानते हैं, वे सबसे उत्तम अव्यय नाम के मेरे पर-भाव स्वरूप-को नहीं जानते। इसलिये परमात्मा अव्यय अकर्ता होता हुआ भी कर्ता है—

'तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्'

क्षर की पांच कला, अक्षर की पांच और अव्यय की पांच, इन पन्द्रह कलाओं का श्रुति निष्कल अव्यय (मायाविशिष्ट रस) में लीन होना बतलाती है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रातिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

यों यह अव्यय-पुरुष सबमें समन्वित होकर भी असङ्ग है। सङ्ग का अर्थ है आसक्ति, जिसे बन्ध भी कहते हैं। किसी पात्र में तेल डालने पर तेल का सङ्ग हो जाता है, कपड़े में मैल का या रङ्गत का सङ्ग हो जाता है, काच में प्रतिबिम्ब का सङ्ग नहीं होता, कमल पत्र में जल का सङ्ग नहीं है, आकाश में मेघ का सङ्ग नहीं होता वैसे ही अव्यय-पुरुष में अक्षर, क्षर प्रपंच का सङ्ग नहीं होता। वह बेलाग रहता है।

ईश्वर और जीव

उक्त इन पन्द्रह कलाओं में, सर्वत्र समन्वित, निष्कल 'परात्पर' रस को भी एक कलारूप में जोड़ दिया जाय तो सोलह कलाएं ही कहलाती हैं। ये सोलह कलाएं ईश्वर और जीव दोनों में हैं, अतएव दोनों ही 'षोडशी' (सोलहकला वाले) कहलाते हैं, किन्तु भेद इतना ही है कि ईश्वर में (षोडशी) अव्यय-आत्मा का क्षर द्वारा आवरण नहीं होता, किन्तु जीव में आनन्द, विज्ञान आदि अव्यय पुरुष की कलाएं क्षर से आवृत हो जाती हैं। आवरण करनेवाला 'काम' बल है, उसकी जीव में प्रधानता है, अतः जीव में अव्ययात्मा आवृत रहता है। यद्यपि 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियों से ईश्वर में भी काम सिद्ध होता है, काम न हो तो सृष्टि ही कैसे करे ? किन्तु 'सर्ग' काम ही उसमें है 'भोग' काम नहीं है। आप्तकाम, आत्माराम होने के कारण सुख, दुःख भोग वह नहीं चाहता। इसलिये काम उसके अव्यय स्वरूप का आवरण नहीं कर सकता। अनावृत अव्ययात्मा की प्रधानता के कारण ही परमेश्वर अव्यय स्वरूप कहलाता है। जीव स्वयं अक्षर होता हुआ भी

क्षरानुरागी होने से क्षर-कोटि में अपने को मान लेना है। अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु आदि कलाएं आपेक्षिक ईश्वर रूप में मानी जाती है।

क्षर की आध्यात्मिक कलाओं में मध्य में जिस विज्ञान (बुद्धि) का नाम आया है वही बन्ध, मोक्ष का प्रधान कारण है। इसके दो रूप हैं, एक रूप बन्धन का हेतु है, वही अव्यय की कलाओं का आवरण करता है, दूसरा रूप मोचन का (मोक्षका) हेतु है, वह आवरण को दूर कर अव्ययात्मा का प्रकाश करता है। मोक्ष हेतु रूप को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं और बन्धहेतु रूप को अव्यवसायात्मक। काम बल और उससे होने वाले कर्म, या इन दोनों की वासना-जहाँ प्रबल होकर आवरण कर लेती है, वह अव्यवसायात्मक रूप है, और जहाँ ये न हों वह व्यवसायात्मक है। व्यवसायात्मक बुद्धि के चार रूप हैं— धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनके विपरीत अव्यवसायात्मक बुद्धि के भी चार रूप हैं—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। ये ही रूप 'पञ्चक्लेश' कहे गये हैं। ज्ञान के विरोधी अज्ञान का नाम अविद्या है, ऐश्वर्य का विरोधी अनैश्वर्य ही अस्मिता (अहङ्कार देहादिरूप से परिच्छिन्नता) रूप से प्रतीत होता है, अवैराग्य—राग और द्वेष दो शब्दों से कहा जाता है और अधर्म रज और तमकी वृद्धि के द्वारा अभिनिवेश रूप में परिणत होता है। जीव इन पाँचों क्लेशों से अभिभूत रहता है। किन्तु ईश्वर में इनके विरोधी चारों रूप पूर्णमात्रा में स्वतः सिद्ध रहते हैं, बुद्धि प्रसाद का नाम ज्ञान है, स्वच्छ बुद्धि में ज्ञान रूप अव्ययात्मा का पूर्ण प्रतिविम्ब होता है, यह बुद्धि का रूप अविद्या का निवर्तक है, इसका विवरण 'अमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादि गीता वचनों में किया गया हैं। बुद्धि का विकास ऐश्वर्य है, इससे शरीरादि परिच्छेदरूप अस्मिता निवृत्त होती है। आसक्तिरूप ग्रन्थिबन्धन का अभाव वैराग्य है। इससे राग, द्वेष हट जाते है। सत्त्वगुण की वृद्धि को धर्म कहते है। इससे रज और तमका अभिभव होकर अभिनिवेश निवृत्त होता है। क्लेशोंकी निवृत्ति होने पर अव्ययात्माका आवरण नहीं रहता और उसकी कलाओं का पूर्ण विकास होता है। जीव में भी यह चतुःस्वरूपा व्यवसायात्मक बुद्धि अष्टाङ्ग योग अदि प्रयत्नों से ईश्वर-भक्त होने पर उत्पन्न हो सकती है, किन्तु वह यत्नसाध्य है,

ईश्वर की तरह स्वतःसिद्ध नहीं। जीवों में विद्यमान क्लेशों की ध्वंस रूप निवृत्ति करनी पड़ती है। किन्तु ईश्वर में क्लेशों का स्वतः सिद्ध अत्यन्ताभाव है। प्रयत्न करने पर भी जीवों में चारों रूपों की परिपूर्णता नहीं हो पाती। जब तक जीव भाव है तब तक सूक्ष्म या स्थूल किसी रूप में क्लेशों का अनुबन्ध रहता ही है, अतः अव्यय की कलाओं का भी पूर्ण विकास जीवों में नहीं हो पाता। योगसूत्रकार भगवान् पतञ्जलिने भी ईश्वर का यही लक्षण किया है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

धर्म, ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य जिसमें स्वतः सिद्ध पूर्णरूप से हों, अविद्या आदि पाँच क्लेशों का जहाँ लेशमात्र न हो, अव्यय पुरुष की कलाएं जहाँ अनावृत हों, यही परमेश्वर, परमात्मा का लक्षण हुआ।

वह परमेश्वर परमात्मा स्व-स्वरूप से अविज्ञेय है स्वरूपलक्षण द्वारा हम उसे पहिचान नहीं सकते। वह सबमें निलीन-निगूढ़ है, किन्तु जगत्, जो कि प्रत्यक्ष है, वह भी उससे पृथक् नहीं। वही जगत् है और वही जगत् का नियन्ता है, इसलिये जगत् में जो-जो रूप उसके जगत् को नियमित करते दिखाई देते हैं, उनके द्वारा ही हम परमात्मा को पहिचान सकते हैं, उनके द्वारा ही उपासना कर सकते हैं, वे ही परमेश्वर के अवतार हैं। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि क्षर पुरुष में अव्यय पुरुष की जो कलाएं परिचित होती हैं, वे ही अवतार हैं; उनके द्वारा ही अव्यय-पुरुष उपास्य या ध्येय होता है। इसी कारण अवतार का वाचक श्रीमद्भागवतादि में 'आविर्भाव' शब्द भी है और जगद्व्यापी विराट् रूप को ही भागवत् में पहिला अवतार बतलाया गया है— "एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्"। जगत् में परमात्मा जो अविर्भूत होता है, सो मानो अपने स्व-स्वरूप—स्वभाव से जगत् में उतरता है, अव्यय-पुरुष ही क्षररूप में उतर कर आया है, इसलिये अवतार कहते हैं। परमात्मा का रूप सत्य है, वह तीनों कालों में सब देशों में, सब दशाओं में अबाधित रहता है। कारण को सत्य कहते हैं, वह सबका कारण है, इसलिये परम सत्य है। वह सत्य जगत् में 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम काम कर रहा है, जल सदा नीचे को ओर ही जाता है, अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को

ही उठती है, वायु सदा तिरछा ही चलता है, सूर्य सदा नियत समय पर उदित होता है, हरिण के दोनों सींग बराबर माप में बढ़ते हुए समान रूप से मुड़ते हैं, बेर के वृक्ष के प्रत्येक पर्व पर दो कांटे पैदा होते हैं—जिनमें एक मुड़ जाता है—एक खड़ा रहता है। वसन्त ऋतु आते ही आम के वृक्षों में मञ्जरी निकलने लगती है। इस प्रकार सब जगत् को अपने-अपने धर्म में नियत रूप से स्थिर रखने वाली शक्ति जिसमें कि चेतना भी अनुस्यूत है, अन्तर्यामी, नियति या सत्य-शब्द से कथित है। कह सकते हैं कि उस परम सत्य का नियति रूप से यह जगत् में अवतार है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द परमात्मा के रूप शास्त्रों में वर्णित हैं, उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ के रूप में अवतार होता है। सत्ता और विधृति ये दोनों प्रतिष्ठा के रूप हैं, प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है और अपने कार्य को अपने आधार पर धारण करता है। जैसा कि मृत्तिका घट का, या तन्तु पट का, ये सत्ता के 'विश्वचर' रूप हुए। चित् (ज्ञान) का विश्वचर रूप 'ज्योति' है। इनके तीन भेद हैं—नाम, रूप और कर्म। इन्हीं से सब पदार्थों का प्रकाश (ज्ञान) होता है, ये ही सब पदार्थों के भेदक हैं। अन्नाद का विश्वचर रूप 'यज्ञ' है अन्नाद का अन्न ग्रहण करना ही यज्ञ कहलाता है इसलिये अन्न नाम से भी इस रूप का व्यवहार करते हैं। अन्नग्रहण से वस्तु का विकास होता है और विकास ही अन्नाद का रूप है। इन तीनों विश्वचर-रूपों को भी 'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नाम रूपे सत्यम्' इत्यादि श्रुतियों में 'सत्य' शब्द से कहा है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

इस श्रुति में सर्वज्ञ पर-पुरुष अव्यय से इन्हीं तीन विश्वचर-रूपों की उत्पत्ति कही गयी है। विश्वातीत रूपों का विश्वचर-रूप से अवतार ही उत्पत्ति है, श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और अन्न नाम यज्ञ का है। इन तीनों सत्वों का भी सत्य परमात्मा है, इसलिये वह 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की 'गर्भस्तुति' आरम्भ करते हुऐ देवताओं ने कहा है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

जिनके व्रत-कर्म वा सङ्कल्प सत्य हैं, सत्य ही जिनका पर—आश्रय—आधार है, जो तीनों काल में सत्य—तीन रूप से जो सत्य हैं, जो सत्य के कारण हैं, जो उक्त तीनों सत्यों में निहित-निगूढ़रूप से प्रविष्ट हैं या जो अव्यय-पुरुषरूप भगवान् परम सत्य, शुद्धरसरूप ब्रह्म में निहित आत्मरूप से स्थित हैं, जो सत्य के भी सत्य हैं अर्थात् कारणों के भी कारण हैं, अथवा प्रजापति का नाम सत्य है, उसमें भी जो सत्य है अर्थात् प्रजापति की सत्यता भी जिनपर अवलम्बित है, ऋत और सत्य दोनों जिनके नेत्र हैं स्वयं भी जो सत्यस्वरूप हैं, उन भगवान् की हम शरण लेते हैं, इस श्लोक में भगवान् के सत्यरूपों का संक्षिप्त विवरण है।

उक्त रूपों से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयम्भू में होता है, वही विश्व का प्रथमोत्पन्न रूप है। अतः सत्य का प्रथम आविर्भाव यही है। आगे परमेष्ठी में, सूर्य में, चन्द्रमा में और पृथिवी में क्रमिक अवतार है। पृथिवीद्वारा पृथिवी के सब प्राणियों में भी परमात्मा के विश्वचर-रूपों का आंशिक अवतार होता है। अतः स्वयम्भू भगवान् का प्रथमावतार और आगे के परमेष्ठी आदि भी अवतार कहे जाते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व का 'प्राण' उत्तरोत्तर में अनुस्यूत होता है, इससे पूर्व-पूर्व के धर्म न्यूनाधिक मात्रा में उत्तरोत्तर में संक्रान्त हैं। स्वयम्भू का 'प्राण' और उसके धर्म परमेष्ठी में, दोनों के सूर्य में, तीनों के चन्द्रमा में, चारों के पृथिवी में और पाँचों के प्राणियों में संक्रान्त होते हैं। कौन कौन मण्डल किस-किस 'प्राण' का अन्यत्र संक्रमण करता है यह भी श्रुतियों से प्रमाणित हो जाता है। स्वम्भू, मण्डल से सत्य, चित् और सूत्र—परमेष्ठि मण्डल से भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, सूर्य से ज्योतिः, गौ, आयुः चन्द्रमा से यश, रेत और पृथिवी से वाक्, गौ, द्यौ—ये प्राण निकलते रहते हैं और अन्यत्र संक्रान्त होते हैं। प्राणिमात्र में, विशेषतः मनुष्यों में जो शक्तियाँ देखी जाती हैं, वे इन्हीं भगवान् के अवतारों से प्राप्त हैं। भिन्न भिन्न शक्ति के अधिष्ठान भिन्न भिन्न आत्माओं का विकास भी प्राणियों में इन मण्डलों से प्राप्त प्राणोंद्वारा ही होता है,

जैसे खनिज आदि में केवल वैश्वानर, वृक्षादि में वैश्वानर और तैजस; आगे प्राणियों में वैश्वानर, तैजस, प्रज्ञान तीनों भूतात्मा, मनुष्यों में भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते हैं। जहाँ जहाँ जिस मण्डल के प्राण की अधिकता हो उसके अनुसार उसमें विशेष शक्ति पायी जाती है और उसे उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार सभी प्राणी एक प्रकार से भगवान् के विभूति, अवतार कहे जा सकते हैं, किन्तु जिसमें शक्तियों का जितना अधिक विकास होता है, वह उतने ही रूप में औरों का विभूतिरूप से उपास्य हो जाता है। जिनमें जीव कोटि से अधिक शक्तियों का विकास हो, बुद्धि के चारों ऐश्वर-रूप या उनमें से एक, दो या तीन मनुष्यकोटि से अधिक मात्रा में जहाँ प्रकट हुए हों, जीव साधारण का आवरण हट कर अव्ययात्मा की कलाएँ जिनमें आविर्भूत दीख पड़ें, उन्हें विशेषरूप से अवतार माना जाता है और जहाँ पूर्ण-रूप से सब शक्तियों का विकास हो, पूर्णरूप से अव्ययात्माकी सब कलाएँ प्रकट हों, वे पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर परब्रह्मरूप से उपास्य होते हैं।

यह ईश्वर और अवतार का रहस्य दृष्टि में रख कर अब भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों की आलोचना कीजिये, तो स्फुट रूप से भासित हो जायगा कि वे पूर्णावतार हैं। दुराग्रह छोड़ दिया जाय तो विवश होकर कहना ही पड़ेगा कि—

'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्'

पहिले बुद्धि के चारों ऐश्वर रूपों को ही देखिये। इनकी पूर्णता श्रीकृष्ण में स्पष्ट प्रतीत होगी। धर्म की स्थापना के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार है। उनका प्रत्येक कार्य धर्म की कसौटी है, उनके सब चरित्र शुद्ध सात्विक हैं, रज और तम का वहाँ स्पर्श भी नहीं है। अमानिता, अदम्भ, आदि बुद्धि के धार्मिक गुणों को पूर्ण मात्रा में वहाँ मिला लीजिये। युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में अगन्तुकों के चरण प्रक्षालन का काम उन्होंने लिया था। महाभारत में अर्जुन के सारथि बने थे। इन बातों से बढ़कर निरभिमानिता क्या हो सकती है? भगवान् श्रीरामचन्द्र इसलिए धार्मिक शिरोमणि मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं कि पिता की आज्ञा से उन्होंने राज्य छोड़ दिया

था। वहाँ पिता की साक्षात् आज्ञा थी, किन्तु कंस को मारने पर जब भगवान् श्रीकृष्ण से मथुरा का राज्य ग्रहण करने का सब बान्धवों ने अनुरोध किया तो उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हमारे पूर्वपुरुष यदु का महाराज ययाति ने वंश परम्परा तक के लिए राज्याधिकार छीन लिया है, इसलिए हम राजा नहीं हो सकते। उन्होंने बहुत पुराने पूर्वपुरुष की परोक्ष आज्ञा का सम्मान कर राज्य छोड़ा, इससे उनका धार्मिक आदर्श कितना ऊँचा सिद्ध होता है। धर्म के प्रधान अंग सत्य में आप इतने सुदृढ़ थे कि शिशुपाल की माता को शिशुपाल के सौ अपराध सहन करने का वचन दे दिया था। युधिष्ठिर की यज्ञ सभा में शिशुपाल के कटु भाषण पर तटस्थों को क्रोध आ गया, किन्तु वे सौ संख्या की पूर्तितक चुपचाप रहे, सौ पूर्ण होने पर ही उसे मारा।

धर्म-के नाम पर जो लोग उलटे मार्ग में फँसते हैं, दो धर्मों का परस्पर विरोध दिखायी देने पर उस ग्रन्थि को सुलझाने में बड़े बड़े विद्वानों की भी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है, और भ्रान्तिवश अधर्म को धर्म मान लेती है, उन ग्रन्थियों को अपने आचरण और उपदेश दोनों से भगवान् श्री कृष्ण ने खूब सुलझाया है। धर्म के सब अंगों को पूरा निभाया है। धर्म का स्वरूप सदा देश काल, पात्र सापेक्ष होता है, एक समय एक के लिये जो धर्म है, भिन्न अवसरों में वा भिन्न अधिकारी के लिए वही अधर्म हो जाता है। इस अधिकार भेद 'श्रेयान् स्वधर्मः' के वे पूर्ण ज्ञाता थे। धर्म का बलाबल वे खूब देखते थे। दुष्टों का किसी भी प्रकार दमन वे धर्मानुमोदित मानते थे। कर्णार्जुन युद्ध में रथ का पहिया पृथिवी में चले जाने पर धर्म की दुहाई देकर अर्जुन से शस्त्र चलाना बन्द करने का अनुरोध करते हुए कर्ण को उन्होंने यही कहकर फटकारा था कि 'जिसने अपने जीवन के आचरणों में धर्म का कभी आदर नहीं किया, उसे दूसरे से धर्माचरण की आशा करने का क्या हक है? कालयवन जब अनुचित रूप से बिना कारण मथुरा पर चढ़ाई कर आया, तो उसे धोखा देने में उन्होंने कुछ भी अनौचित्य नहीं समझा। अधार्मिकों के साथ भी यदि पूर्ण धर्म का पालन किया जाय तो अधार्मिकों का हौसला बढ़ता है और धर्म की हानि होती है। इसलिये समाज व्यवस्थापक को इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए।

रथचक्र लेकर भीष्म के सामने दौड़ते हुए उन्होंने जब भीष्म पर आक्षेप किया कि 'तुमने धार्मिक होकर भी अधर्मी दुर्योधन का साथ क्यों दिया,' तब भीष्म के 'राजा परं दैवतम्' राजा बड़ा देवता है, उसकी आज्ञा माननी ही चाहिए, यह उत्तर देने पर उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'दुष्ट राजा कभी माननीय नहीं होता, तभी तो देखो मैंने स्वयं कंस का नियन्त्रण किया। इस प्रकार सामाजिक नेता के धर्मों की उन्होंने खूब शिक्षा दी है, और धर्म के साथ नीति का क्या स्थान है, कहां-कहां नीति को प्रधानता देनी चाहिये और कहां-कहां धर्म को, इसे खूब स्पष्ट किया है। नीति का उपयोग जहां धर्मरक्षा में होता हो, वहां वे नीति को प्रधानता देते हैं। इस व्यवस्था को भूल जाने से ही भारतवर्ष विदेशियों से पादाक्रान्त हुआ है और परिणाम में इसे धर्म की दुर्दशा देखनी पड़ी है।

कर्णपर्व में महाराज युधिष्ठिर के गाण्डीव धनुष की निन्दा करने पर सत्य-प्रतिज्ञा-निर्वाह के उद्देश्य से युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाने के लिए उद्यत अर्जुन को ऐसे अवसर में सत्य पालन का अनौचित्य बताते हुए उन्होंने रोका था और 'बड़ों की निन्दा ही उनका हनन है,' इस अनुकल्प से सत्य-रक्षा करवायी थी। सौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा ने जब सोते हुए द्रौपदी के पांचों पुत्रों को मार दिया और अर्जुन ने उसके वध की प्रतिज्ञा से, बिलखती द्रौपदी को सान्त्वना देकर युद्ध में जीतकर उसे पकड़ लिया तब युधिष्ठिर और द्रौपदी कह रहे थे कि 'ब्रह्महत्या मत करो, इसे छोड़ दो, भीमसेन कह रहे थे कि ऐसे दुष्ट को अवश्य मार दो' अर्जुन की प्रतिज्ञा भी मारने के पक्ष में थी, उस समय भी उन्होंने 'धन हरण मारने के समान है, इसके मस्तक की मणि निकाल लो,' यह अनुकल्प बताकर अर्जुन से दोनों गुरुजनों की आज्ञा का पालन कराया था और उसे ब्रह्महत्या से बचाकर अनुकल्प रूप से सत्य रक्षा करवायी थी। ऐसे प्रसङ्ग 'धर्मग्रन्थि' सुलझाने के आदर्श उदाहरण हैं। भगवद्गीता के प्रारम्भ में अर्जुन के विचार स्थूलदृष्टि से बिलकुल धर्मानुकूल प्रत्युत एक आदर्श धार्मिक के विचार प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्होंने स्वधर्म विरुद्ध कहकर 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' के द्वारा उन विचारों को बिलकुल अनुचित ठहराया और उसे युद्ध में प्रवृत्त किया, जो कि गीता का स्वाध्याय करने पर बिलकुल ठीक मालूम होता

है। बाल्यकाल में ही गोपों द्वारा इन्द्र की पूजा हटाकर उन्होंने जो गोवर्धन-पूजा प्रवृत्त की, उसमें भी यही अधिकार भेद का रहस्य काम कर रहा है। उनका यही अभिप्राय है कि ईश्वर जब सर्वव्यापक है, तो गोवर्धन जो हमारे समीप है, और जिससे हमारी सब प्रकार पालना होती है, उसे ही ईश्वर की मूर्ति मानकर क्यों न पूजा जाय? क्या वह ईश्वर की विभूति नहीं है? 'इन्द्र की पूजा करने से इन्द्र वर्षा करेगा' इस काम्य धर्म के वे सदा से विरोधी रहे हैं, इसे उन्होंने स्थान स्थान पर 'दूकानदारी' बताया है और धर्म की सीमा से बहिर्भूत माना है। अपना कर्तव्य समझ धर्म का अनुष्ठान करना—यही श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा है। अस्तु, सर्वाङ्गपूर्ण, बलाबल-विवेचना सहित, आदर्श धर्म का उनकी कृति और उपदेशों में पूर्ण निर्वाह है। इसीलिये उस काल के धार्मिक नेता भगवान् व्यास जी, बाल ब्रह्मचारी भीष्म वा धर्मावतार युधिष्ठिर आदि उनको साक्षात् ईश्वर मानते थे और धर्मग्रन्थि सुलझाने में उनको प्रमाणित करते थे। महाराज परीक्षित का जब मृत बालक दशा में जन्म हुआ, तो उसको जिलाते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी धर्मपरायणता का ही आधार रखा है ऐसा महाभारत में भी आख्यान है। वहाँ उनकी उक्ति यही है कि 'यदि मैंने आजन्म कभी धर्म का वा सत्य का अतिक्रम न किया हो तो यह बालक जी उठे'। इससे अपनी धर्मपरायणता का आदर्श और धर्म की अलौकिक शक्ति भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रकट की है।

दूसरा बुद्धि का रूप 'ज्ञान' भी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वाङ्गपूर्ण था। व्यावहारिक ज्ञान, राजनैतिक ज्ञान, धार्मिक ज्ञान, दार्शनिक ज्ञान, सबकी उनमें पूर्णता थी। व सर्वज्ञाननिधि थे, इसके लिए उनका एक भगवद्गीता का उपदेश ही पर्याप्त प्रमाण है—जिसके ज्ञान की थाह आज पाँच हजार वष तक भी न मिल सकी। नित्य नये-नये विचार और नये-नये विज्ञान उस सात सौ श्लोकों के छोटे से ग्रन्थ से प्रस्फुटित हो रहे हैं। अन्य भी श्रीभागवत् एकादश-स्कन्ध आदि के कई एक उपदेश हैं, जो ज्ञान में आपकी पूर्णता के प्रबल प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त व्यवहार में उनका पूर्णज्ञान विकसित है। व्यावहारिक ज्ञान कार्य-कारण-भाव-ज्ञान का नाम है। किस उपाय से कौन-सा कार्य सिद्ध हो सकता है, यह जान लेना ही व्यावहारिक ज्ञान होता है।

इसका चिन्ह है सफलता। जितना व्यावहारिक ज्ञान जिसमें होगा, उतनी ही सफलता उसे मिलेगी। जीव कोटि के बड़े-बड़े विद्वान् और महान् नेता भी खास खास अवसरों पर धोखा खा जाते हैं और सफलता से हाथ धो बैठते हैं, इसके इतिहासों में सैकड़ों उदाहरण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का व्यावहारिक मार्ग बाल्यकाल से ही कितना कण्टकाकीर्ण था, यह उनके चरित्र के स्वाध्याय करने वालों से छिपा नहीं है। चारों तरफ आसुर-भाव-पूर्ण राजाओं का दबदबा था, उन सबका दमन करना था। किन्तु इस दशा में भी उन्हें वहाँ असफलता नहीं हुई। इतना ही नहीं, किसी दशा में चिन्तित होकर सोचना भी न पड़ा, प्रत्येक स्थान में सफलता हाथ बांधे खड़ी रही। क्या यह विज्ञान की पूर्णता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं? क्या इससे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण ईश्वरत्व प्रकट नहीं होता? भारत का सम्राट् जरासन्ध और उसका मित्र कालयवन अपने अतुल सैन्यसागर से मथुरा का घेरा दिये पड़े हैं, उस दशा में सब यादवों को अपने अक्षत सामान सहित सुदूर काठियावाड़ के द्वारका-स्थान में ले जाकर बसा देना और समुद्र के मध्य में एक आदर्श नगर बनाकर उसे भारत के सब नगरों से प्रधान बना देना वास्तव में व्यावहारिक ज्ञान की मनुष्य-सीमातीत पराकाष्ठा है। एक छोटे से यादवों के राज्य का इतना दबदबा जमा देना कि सम्पूर्ण भारत के महाराजाओं को उनकी आज्ञा माननी पड़े, यह राजनैतिक ज्ञान की सीमा है। महाभारत में भी उनका राजनैतिक ज्ञान स्थान-स्थान में अपनी अलौकिक छटा दिखा रहा है, और वर्तमान युग के राजनैतिक भी उनके राजनैतिक ज्ञान का लोहा मानते हैं। ज्ञान की सर्वाङ्गपूर्णता में किसी विचार को सन्देह नहीं हो सकता। अब ऐश्वर्य को लीजिये। बुद्धि के विकास का नाम ऐश्वर्य है। उसके प्रतिफल आध्यात्मिक अणिमा, महिमा आदि सिद्धि और बाह्य अलौकिक सम्पत्ति आदि होते हैं। जिन्होंने द्वारका की समृद्धि का वर्णन पढ़ा है, उन्हें वहाँ की अलौकिक सम्पत्ति की बात बतानी न होगी। बाल्य चरित्रों में कालिय दमन, गोवर्धन धारण आदि तथा आगे के चरित्रों में विश्व रूप प्रदर्शन, अनेक रूप प्रदर्शन आदि आध्यात्मिक शक्तियों की पराकाष्ठा के उदाहरण भी प्रचुरता से मिलते हैं, जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान शून्य आजकल की जनता असम्भव कोटि में मानती है। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण में

ऐश्वर्य जन्मसिद्ध है, आध्यात्मिक शक्तियों की विभूतियों के रूप में ही उनके अलौकिक कार्य हुए हैं। कालवश भारत के दुर्दैव से योगविद्या आज नष्ट हो गयी, आध्यात्मिक शक्तियों का, जिनके कारण भारत जगद्गुरु था, आज परिचय ही न रहा। इससे आध्यात्मिक शक्तियों के कार्यों को आज असम्भव समझा जाय तो आश्चर्य नहीं, किन्तु किसी बात को असम्भव बता देना कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। कार्य-कारण-भावपूर्वक उपपत्ति सोचना बुद्धिमत्ता का लक्षण है।

व्यावसायात्मिका बुद्धि का चौथा रूप वैराग्य है, जो कि रागद्वेष का विरोधी है। इसकी पूर्णता का चिह्न यह है कि सब काम करता हुआ भी, पूर्णरूप से संसार में रहता हुआ भी, सब में अनासक्त रहे, किसी वन्धन में न आवे। कमल-पत्र की तरह निर्लिप्त बना रहे। संसार छोड़कर अलग हो जाना अभ्यासवश जीवों में सम्भव है, किन्तु संसार में रह कर सर्वथा निर्लिप्त रहना शुद्ध ऐश्वर-धर्म है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों में आदि से अन्त तक वैराग्य का (राग-द्वेष शून्यता) पूर्ण विकास है। कहाँ बाल्यकाल का गोप-गोपियों के साथ, नन्द-यशोदा के साथ वह प्रेम कि जिसमें बँध कर एक क्षण वे बिना कृष्ण के न रह सकते थे और कहाँ यह आदर्श निष्ठुरता कि अक्रूर के साथ मथुरा जाने के बाद वे एक वार भी वृन्दावन नहीं गये। उद्धव को भेजा, बलराम को भेजा, उन्हें सान्त्वना दी, किन्तु अपना बेलागपन दिखाने को एक बार भी किसी से मिलने को स्वयं उधर मुख नहीं किया। पहले गोपियों के साथ रासलीला करते समय ही मध्य में अन्तर्धान होकर अपनी निरपेक्षता आपने दिखा दी थी, प्रकट होने पर जब गोपियों ने व्यङ्ग्य से प्रश्न किया कि जो आपके साथ प्रेम नहीं करते, उनका क्या स्थान। तब उन्होंने कहा था कि वे दो ही हो सकते हैं—'आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः' यां तो पूर्ण ज्ञानी या कृतघ्न—साथ ही अपना स्वभाव भी आपने बताया था कि—

'नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये' इस स्वभाव का पूर्ण निर्वाह आपने किया। यादवों के राज्य का सब काम आप चलाते थे, बन्धनरूप कोई अधिकार आपने नहीं ले रक्खा था, वहां भी 'बेलाग' ही रहे। महाभारत अपनी नीति से ही चलाया,

किन्तु बने रहे 'पार्थ-सारथि।' बहुत-से दुष्ट राजाओं को मारा, किन्तु उनके पुत्रों को ही उनके राज्य का अधिकार दे दिया, राज्य-लोलुपता कहीं भी न दिखायी। अपने कुटुम्बी यादवों से भी जब जगत् में अशान्ति की सम्भावना हुई, तो उनका भी अपने सामने ही सर्वनाश करा दिया। वैराग्य का रागद्वेषशान्तिमय ही लक्षण 'समता' है वह श्रीकृष्ण के आचरणों में ओतप्रोत है; हर एक यही समझता था कि श्रीकृष्ण मेरे हैं, किन्तु वे थे किसी के नहीं, सबके और सबसे स्वतन्त्र। पटरानियों की भी यही दशा थी, रुक्मिणी स्वयं को पटरानी समझती थी, सत्यभामा अपने को अतिप्रिया मानती थी, सब ऐसा ही समझती थीं। यह भगवान् श्रीकृष्ण की समता का निदर्शन है। नारद ने परीक्षा करते समय इसी 'समता' पर आश्चर्य प्रकट किया था। वे सत्यभामा का मन रखने को पारिजात हरण करते हैं, तो जाम्बवती को पुत्र प्राप्त होने के लिए शिव की आराधना करते हैं, किसी भी प्रकार समता को नहीं जाने देते। महाभारत-युद्ध के उपस्थित होने पर दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही सहायता मांगने आते हैं और दोनों का मनोरथ पूर्ण करते हैं। अर्जुन से पूर्ण सौहार्द है, किन्तु गर्व-भञ्जन के लिये स्थान-स्थान पर उसका भी शासन किया जाता है। ये सब समता के प्रबल प्रमाण हैं। ये बुद्धि के चारों सात्त्विक रूप जिसमें हो वही भगवान् कहलाता है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।
बुद्धयः श्रीर्यशश्चेति षड् वै भगवतो भगाः॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

यश और श्री इन दो बाह्य लक्षणों को भग-शब्दार्थ के अन्तर्गत किया गया है, सो उन दोनों का भगवान् श्रीकृष्ण में विकास सर्वप्रसिद्ध है, इस पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तृतीय श्लोक में जो अधिक भगवान् का लक्षण लिखा है—भूतों की उत्पत्ति,

प्रलय, लोक-लोकान्तर-गति, वहाँ से लौटना, विद्या और अविद्या—इन सबका ज्ञान; सो गीता में इन सब विषयों का विस्पष्ट प्रतिपादन ही बता रहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण में इन ज्ञानों की परिपूर्णता है। भगवद्गीता में उक्त चारो सात्विक बुद्धिरूपों का विशद निरूपण है। बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है, उसमें वैराग्ययोग, ज्ञानयोग ऐश्वर्यंयोग और धर्मयोग—यह क्रम रक्खा गया है, इनको क्रम से राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या-नाम से भी कहते हैं। इनका फल क्रम से अनासक्ति (समता), अनावरण, भक्ति धनमुक्ति द्वारा बुद्धि का अव्ययात्मा में समर्पणरूप योग है। इससे भी उक्त चारों रूपों की पूर्णता गीता के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण में सिद्ध होती है। इसप्रकार 'भग' लक्षण की पूणता से श्रीकृष्ण (अच्युत) भगवान् कहलाते हैं। यद्यपि योगसाधन से जोवों में भी ये सात्विक-बुद्धि-लक्षण प्रकट हो सकते हैं, किन्तु किसी मात्रा में ही होते हैं। एक कोई पूर्णरूप में प्रकट हो जाय-यह भी सम्भव है, और ऐसे ब्रह्मर्षि राजर्षि मुनि आदि भी 'भगवान्' कहे जाते हैं, किन्तु सब रूपों की परिपूर्णता जीव में अंततः जीवभाव रहते असम्भव है, सबकी पूर्णता ईश्वर में ही होती है। फिर यह भी विलक्षणता है कि जीवों में ये लक्षण प्रयत्नसाध्य होते हैं और ईश्वर में स्वतः सिद्ध। भगवान् श्रीकृष्ण का योग-साधन रूप प्रयत्न किसी इतिहास में नहीं लिखा और बाल्यकाल से ही व्यवसायात्मक-बुद्धि के लक्षण उनमें प्रकट हैं। इन से उक्त बुद्धि-लक्षण उनमें स्वतः सिद्ध हैं, यही कहना पड़ेगा और उन्हें अच्युत भगवान्, ईश्वर का पूर्णावतार वा साक्षात् परमेश्वर ही मानना पड़ेगा।

व्यवसायात्मिक बुद्धि की पूर्णता के कारण 'अव्यय' पुरुष का आवरण अंशतः भी भगवान् श्रीकृष्ण में नहीं है। अव्यय पुरुष की पाँचों कलाओं का पूर्ण विकास है, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आप को भगवद्गीता में 'अव्यय' पुरुष कहा है। अव्यय पुरुष का लक्षण पूर्व लिखा जा चुका है कि सब में समन्वित रहता हुआ भी, सबका आलम्बन होता हुआ भी वह सर्वथा निर्लिप्त रहता है, बिलकुल 'बेलाग' रहता है, यह लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण में किस प्रकार समन्वित हैं, यह हम वैराग्य निरूपण में दिखा चुके हैं। अब अव्यय की कलाओं के विकास पर भी

विचार करें। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये अव्यय पुरुष की कलाएं पूर्व लिखी जा चुकी हैं। वाक् के विकास के लक्षण हैं—भौतिक समृद्धि और वाक् शक्ति। भौतिक समृद्धि की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण में हम दिखा चुके हैं, वाक्शक्ति से भी उन्होंने कई जगह काम लिया है—भगवद्गीता की घटना सुप्रसिद्ध ही है, युद्ध छोड़कर भागते हुए एक दृढ़प्रतिज्ञ हठी वीर को अपनी वाक्शक्ति से ही उन्होंने स्वधर्म में लगाया। छोटी-सी अवस्था में वाक्शक्ति से ही गोपों से इन्द्र-पूजा छुड़वाकर गोवर्धन-पूजा करवा दी। ग्राम की भोलीभाली जनता का विश्वास—धार्मिक विश्वास बदल देना कितना कठिन काम है—वह उन्होंने सात वर्ष की अवस्था में ही वाक्शक्ति से प्रभावित कर दिखाया। गोप-कन्याओं का नग्न-स्नान रोकने में भी आपने वाक्शक्ति से काम लिया, ऐसे वाक्शक्ति-विकास के कई उदाहरण हैं। दूसरी प्राण-कला के विकास के लक्षण हैं—बल, शौर्य क्रियाशीलता आदि। जिसने शिशु अवस्था में अपनी लात से बड़े शकटों को उलट दिया, कुमारावस्था में पुराने अर्जुन-वृक्षों को एक झटके में उखाड़ फेंका, किशोर-अवस्था में कंस के बड़े-बड़े मल्लों को अखाड़े में पछाड़ दिया, मत्त हाथी को मार गिराया। यौवन में नग्नजित राजा के यहाँ सात मत्त वृषभों को एक साथ नाथ दिया, क्षत्रियत्व की पूर्णता के उस समय में—महा महावीर क्षत्रियों के भारत में विराजमान रहते—जिनके सामने लड़कर कोई न जीत सका, सब दुष्ट राजाओं पर आक्रमण कर सबका दमन जिन्होंने किया, सारे भूमण्डल का भार उतारा, अकेले इन्द्रपुरी पर चढ़ाई कर 'पारिजात हरण' में इन्द्र तक का मान भङ्ग किया, उनके बल और शौर्य के अमानुष विकास में सन्देह का स्थान ही कहाँ है? क्रियाशीलता भी उनकी जगद्विदित है। आज द्वारका में हैं तो कल देहली में, परसों युद्ध में चढ़ाई हो रही है तो अगले दिन तीर्थयात्रा। हजारों रानियों के साथ पूर्ण गार्हस्थ्य धर्म का निर्वाह, यादव राज्य का सब प्रबन्ध कर भूमण्डल में उसे आदर्श प्रतिष्ठित राज्य बनाना, पाण्डवों के प्रत्येक कार्य में सहायक और सलाहकार रूप में उपस्थित रहना, भू-भार हरण का अपना कर्तव्य भी पालन करते जाना, महाशत्रुओं से द्वारका की रक्षा भी और शत्रुओं पर आक्रमण कर उनका विध्वंस भी, अत्यल्प समय में द्वारका से विदर्भ देश पहुंच कर रुक्मिणी का मनोरथ पूर्ण कर देना

आदि क्रियाशीलता के अमानुष उदाहरण हैं। यों अव्यय पुरुष की दूसरी कला का विकास पूर्णरूप में सिद्ध होता है। तीसरी कला 'मन' के विकास के लक्षण हैं—मनस्विता—उत्साहशीलता, मनो मोहकता (मनोहरता) आदि। शिशुपाल जैसे वीर राजा के मित्रों का सेना सहित उपस्थित होने का समाचार सुनकर भी अकेले कुण्डिनपुर चले जाना, भारत के सम्राट् परम शत्रु जरासन्ध से लड़ने को केवल भीम और अर्जुन को साथ ले बिना सेना जा पहुँचना, भरी सभा में कूदकर कंस जैसे राजा के केश पकड़कर उसे गिरा देना, मणि चोरी का कलङ्क लगने पर सबके मना करते रहने पर भी अकेले अपार गुफा में चले जाना, ऐसे मनस्विता—हिम्मत के उदाहरण उनके चरित्रों में सैकड़ों हैं। मनोहरता तो उनकी प्रसिद्ध है, उनका नाम ही 'चितचोर' है। शत्रु भी एक बार सामने आकर आकृष्ट होकर चौकड़ी भूल जाते थे। विदेशीय क्रूर वीर कालयवन को भी अनुताप हुआ था कि ऐसे सुन्दर नौजवान से लड़ना पड़ेगा। चौथी कला 'विज्ञान' के सम्बन्ध में पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धिप्रसादरूप 'ज्ञान' के रहते अव्यय पुरुष की इस 'ज्ञान' कला का विकास होता है। यहाँ विज्ञान से संसार ग्रन्थिमोचक आत्मविज्ञान ही अभिप्रेत है, सो उसके विकास में भगवद्गीता के उपदेश से बढ़कर किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

अब पांचवीं सबसे उत्कृष्ट अव्यय की (प्रथम) कला आनन्द है वही ब्रह्म का मुख्य स्वरूप बताया गया है—'रसो वै सः।' इसका पूर्ण विकास अन्य अवतारों में भी नहीं देखा जाता। भगवान् श्रीरामचन्द्र में अन्य सब कलाओं का विकास है, किन्तु आनन्द का सर्वांश में विकास नहीं है। उनका जीवन 'उदासीनतामय' है, उनमें शान्त्यानन्द है; किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में आनन्द के सब रूपों का पूर्ण विकास है। आनन्द के दो भेद हैं—एक समृद्ध्यानन्द, दूसरा शान्त्यानन्द। जिस समय मनुष्य को किसी इष्ट वस्तु—धन, पुत्रादि की प्राप्ति होती है, तो उसका चित्त प्रफुल्लित होता है, उसे मनुष्य की मनोवृत्ति रूप आनन्द या समृद्ध्यानन्द कहा जाता है। यह प्रफुल्लता थोड़े काल रहती है, आगे वह इष्ट वस्तु—धन पुत्रादि मौजूद रहती है—किन्तु वह चित्त-

विकास, वह प्रफुल्लता नहीं रहती। अब वह समृद्धयानन्द शान्त्यानन्द रूप में परिणत हो गया। निर्धन की अपेक्षा धनवान् को, अपुत्र की अपेक्षा पुत्रवान् को अधिक आनन्द है, किन्तु उस आनन्द का सर्वदा अनुभव नहीं होता। चित्त विकास सदा नहीं रहता। अनुभव काल में, चित्त विकास दशा में समृद्धयानन्द और अनुभव में न आने वाला, मनोवृत्ति से गृहीत न होने वाला आनन्द शान्त्यानन्द कहलाता है। मन में इच्छा रूप तरङ्ग न उत्पन्न होने की दशा में या दुःख-निवृत्ति दशा में भी शान्त्यानन्द ही होता है। शान्त्यानन्द के ब्रह्मानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द आदि भेद पञ्चदशी आदि ग्रन्थों में बताये गये हैं और समृद्धयानन्द के मोद, प्रमोद, प्रिय आदि भेद तैतिरीयोपनिषद् में आनन्दमय के शिर, पक्ष आदि के रूप से कहे गये हैं। अभिमत वस्तु के दर्शन में प्रिय रूप आनन्द है, उसके प्राप्त होने में मोद होता है। शान्त्यानन्द तो ईश्वर के प्रायः सभी अवतारों में रहता है, क्योंकि ईश्वर, है ही आनन्द रूप, किन्तु भोग लक्षण समृद्धयानन्द का भगवान् श्रीकृष्ण में ही पूर्ण विकास है। चित्तविकास रूप आनन्द की पूर्ण मात्रा हमारे चरित्र नायक में ही है। अनेक ग्रन्थों में संक्षेप या विस्तार से भगवान् श्रीकृष्ण का जीवन चरित लिखा गया है, किन्तु कहीं उनके जीवन में ऐसा अवसर दिखायी नहीं देता, जहां वे हाथ पर कपोल रखकर किसी चिन्ता में निमग्न हों, जीवन भर में कोई दिन ऐसा नहीं—जिस दिन वे शोकाक्रान्त हो आँसू बहा रहे हों। कैसे भी झझट सामने आये हों, सबको खेल तमाशों में ही उन्होंने सुलझाया। भय, चिन्ता या शोक को कभी पास न फटकने दिया। बाल्यकाल में ही नित्य कंस के भेजे असुर मारने को आ रहे हैं किन्तु खेल-तमाशों में ही उन्हें ठिकाने लगाया जाता है। कस जैसा घोरकर्मा पातको ताक में है किन्तु यहाँ गोवत्सों को चराने के बहाने गोपसखाओं के साथ वंशी के स्वरों में राग अलापे जा रहे हैं। गोपियों के घरों का माखन उड़ाया जा रहा है, चीर हरण का विनोद हो रहा है, रासलीला रची जा रही है। वर्तमान सभ्यता के अभिमानी जो महाशय इन चरित्रों पर आक्षप करते हैं वे श्रीकृष्णावतार का रहस्य नहीं समझते। यदि ये लीलाएं नहीं होतीं तो भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार या साक्षात् भगवान् न कहलाते, आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति उनमें न मानी जा सकती। आगे यौवन

चरित्रों में भी दुष्टों का संहार भी हो रहा है, राज्य की उन्नति भी हो रही है और जो-जो सुन्दरी अपने में अनुरूप सुनी जाती है, उनके साथ विवाहों का आयोजन भी चल रहा हैं। सब प्रकार के झंझट भी सुलझाये जा रहे हैं और राजधानी को पूर्ण समृद्धिमय बनाकर अनेक रानियों के साथ आदर्श गर्हस्थ्यसुख का उपभोग भी हो रहा है। पारिजात-वृक्ष लाकर सत्यभामा के मन का भी अनुरोध रक्खा जा रहा है, भूमि को स्वर्गरूप भी बनाया जा रहा है, अर्जुन जैसे मित्रों के साथ सैर का आनन्द भी लूटा जा रहा है। कदाचित् कोई मनचले महाशय प्रश्न करें कि बहुत से पुरुष मद्यपानादि में या अनेक स्त्रियों के सहवास में—ऐशोआराम में ही अपना काल यापन जीवन का लक्ष्य मानते हैं—क्या उन्हें भी आदर्श माना जाय, तो उत्तर होगा कि हां समझा जा सकता था, यदि वे अपने धर्म से विच्युत न होते, यदि सब प्रकार के ऐशोआराम में रहकर भी उनसे निर्लिप्त रह सकते, यदि विनोदमय रहकर भी अपने कर्तव्य को न भूलते यदि आलौकिक उन्नति से हाथ न धोते, यदि सब कुछ भोगते हुए भी क्षणमात्र में सब को छोड़ कर कभी याद न करने की शक्ति रखते, यदि ऐसे भोग के परिमाण-रूप में नाना आधि-व्याधि या भयानक शोक, मोह आदि से ग्रस्त न होते, यदि पूर्ण समृद्धयानन्द भोगते हुए भी शान्त्यानन्द में निमग्न रहते, यदि उस दशा में भी अपने अनुभव के ऋण

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

—ऐसे सच्चे उद्गार निकालकर संसार को शान्तिसमुद्र में लहरा सकते। क्या संसार में कोई जीव ऐसा दृष्टान्त है जिसके जीवन में दुःख का स्पर्श भी न हुआ हो? जिसने सब प्रकार के लौकिक सुख भोगते हुऐ भी अपना पूर्ण कर्तव्य पालन किया हो? जो संसार में लिप्त दीखता

हुआ भी आत्मविद्या का पारङ्गत हो? जो जगत् भर को अन्याय हटाने की चुनौती देता हुआ भी भय और चिन्ता से दूर रहे? निःसन्देह ये परमानन्द परमात्मा के लक्षण हैं, जीव-कोटि के वाहर की वात है।

वेदान्त के ग्रन्थों में आनन्द का चिह्न 'प्रेमास्पदत्व' को माना है, आत्मा आनन्दरूप इसी युक्ति से सिद्ध किया जाता है कि वह परम प्रेमास्पद है। औरों के साथ प्रेम 'आत्मार्थ' होने पर होता है, आत्मा में निरुपाधिक प्रेम है। भागवत में जब ब्रह्मा ने गोप, गोवत्स-हरण किया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने सब गोप-वत्स अपने रूप से प्रकट कर दिये थे, उस प्रसङ्ग में कहा है कि गौओं को या गोपों के पितरों को उनमें वहुत अधिक प्रेम हुआ। परीक्षित के कारण पूछने पर शुकाचार्य ने यही कारण वताया कि आत्मा आनन्द रूप से होने से परम प्रेमास्पद है। भगवान् श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं, आनन्दमय हैं, अतः उसके स्वरूप से प्रकट गोवत्सादि में अत्यधिक प्रेम होना ही चाहिये। अस्तु जिसमें अधिक प्रेम हो, वह आनन्दमय होता है, यह इस प्रसङ्ग से सिद्ध हुआ। इस लक्षण के अनुसार परीक्षा करें, तो भी भगवान् श्रीकृष्ण की आनन्दमयता पूर्णरूप से सिद्ध होती है। जैसा प्रेम का प्रवाह उन्होंने वहाया था, ऐसा किसी ने नहीं वहाया। वाल्यकाल से ही सब उनके प्रेम में बँध गये थे। व्रज के खग, मृग, वृक्ष, लता भी वंशी की ध्वनि से प्रेमोन्मत्त हो जाते थे। गोप, गोपाङ्गनाएँ अपने कुटुम्वियों से प्रेम करते थे। जो आसुरभाव से वने हुए थे उन्हें छोड़ श्रीकृष्ण प्रेम का प्रवाह भूमण्डल को प्लावित कर चुका था। शत्रु भी क्षणमात्र में उनके प्रेम से आकृष्ट हो जाते थे, उस दिन ही क्यों, आज भी सव श्रेणी के, सव धर्मों के, सब जाति के मनुष्यों का जितना प्रेम भगवान् श्रीकृष्ण पर देखा जाता है, उतना किसी पर नहीं देखा जाता। कोई गवैया आदि गान का अभ्यास करता है, तो पहले श्रीकृष्ण उसकी जवान पर आते हैं, किसी जाति का कोई ऐसा अभागा गायक न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के पद न गाये हों, तुक बन्दी वालों तक कोई ऐसा कवि न होगा—जिसने श्रीकृष्ण के सम्वन्ध में कभी अक्षर न जोड़े हों। चित्रकला पर जिसने जरा भी हाथ जमाया है, वह श्रीकृष्ण की मूर्ति एकाध वार अवश्य

बना चुका होगा, मूर्ति बनाने का शिल्प जाननेवाला प्रायः ऐसा नहीं मिलेगा जिसने श्रीकृष्ण की मूर्ति कभी न बनायी हो। धार्मिक, भक्त, विबासी-रसिया, राजनैतिक, नव्यसभ्य, दार्शनिक, निरपेक्ष सबके कमरों में या मकान की दीवारों पर किसी-न किसी रूप में वे नजर आ जांयगे, ताना-री-री करनेवाले छोटे बच्चे, कुमार, किशोर, अलापते हुए तानसेन को मात देने की इच्छा रखने वाले रसिया, खेतों के किसान गांवों की भोली-भाली स्त्रियां-सबकी जिह्वा पर किसी-न-किसी रूप में उनका नाम विराजित सुन पड़ेगा। और तो क्या, होली के उन्माद से उन्मत्त जनता भी उनके ही यश को अपनी वाणी पर नचाती है। भक्तलोग अपना सर्वस्व समझ कर, धार्मिक लोग धर्मरक्षक समझकर, विलासी विलास के आचार्य समझकर, दर्शनिक गीता के प्रवक्ता समझकर, राजनैतिक नीति के पारङ्गत समझकर, देशहितैषी देशोद्धारक समझ कर और गो सेवक गोपाल समझ कर समय-समय पर उनका स्मरण करते हैं। साम्प्रदायिक भेद रहते भी वैष्णव विष्णु का पूर्णावतार मानकर, शाक्त आद्याशक्ति का अवतार कहकर और शैव शिव का अनन्य समझ कर उनको भजते हैं। शिव, विष्णु, शक्ति की उपासना में चाहे मतभेद रहे, श्रीकृष्ण-मूर्ति की ओर सबका झुकाव है। भारत के ही नहीं; अन्यान्य देशों के लोग भी कृष्ण प्रेम से प्रभावित हुए हैं, उनके उपदेशों का और उनके चरितों का रूपान्तर में आदर सब देशों में हुआ है मुसलमानों में रसखान, खानखाना, नवाज, ताजबेगम आदि की बात तो प्रसिद्ध ही हैं। वर्तमान युग के ईसाइयों में भी कई विद्वानो ने इस बात की चेष्टा की है कि क्राइस्ट को श्रीकृष्णका रूपान्तर सिद्ध किया जाय।

अव्यय पुरुष की पांचों कलाओं का विकास भगवान् श्री कृष्ण में परिपूर्ण है, यह संक्षेप में दिखा दिया गया। ब्रह्म के अन्य विश्वचररूप प्रतिष्ठा, ज्योतिः आदि जो पूर्व लिखे गये हैं। अब क्षर की आध्यात्मिक कला रूप स्वयम्भू आदि पांच अवतार जो पूर्व लिख आये हैं, उनके प्राणरूप शक्तियों का आविर्भाव संक्षेप में भगवान् श्रीकृष्ण में बतलाना है।

पूर्व कहा जा चुका है कि परमेष्ठि मण्डल विष्णु प्रधान है, और भगवान् श्रीकृष्ण विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं, अतः परमेष्ठिमण्डल के सम्बन्ध पर ही मुख्यतया विचार किया जाता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण

बहुतों के चित्त में यह शंका होती है कि द्विजों का गौरवर्ण होना ही प्राकृतिक है, फिर ऐसे प्रतिष्ठित कुल के विशुद्ध क्षत्रिय राम और कृष्ण कृष्णवर्ण क्यों हैं ? कदाचित् कहा जाय कि ये विष्णु के अवतार हैं, विष्णु भगवान् कृष्णवर्ण हैं, इसलिए ये भी कृष्णवर्ण हैं, तो वहां भी प्रश्न होगा कि सत्त्वगुण के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु भी कृष्णवर्ण क्यों ? सत्त्व का रूप शास्त्र में श्वेत माना गया है; रज का लाल और तम का काला। तमोगुण का अधिष्ठाता कृष्ण वर्ण हो सकता है, सत्त्व का अधिष्ठाता श्वेत वर्ण होना चाहिए। पहिले इसी प्रश्न पर विचार करें। कृष्णवर्ण तीन प्रकार का है—अनुपाख्य-कृष्ण, अनिरुक्त-कृष्ण और निरुक्त कृष्ण। सृष्टि के पहिले की अवस्था को कृष्ण कहा जाता है—

'आसीदिदं तमोभूतम् ;

यह अनुपाख्य कृष्ण है। जिसका हमें कुछ ज्ञान न हो सके, उसे कृष्ण और जो हमारी समझ में आ जाय, वह शुक्ल कहलाता है। निगूढ़ को कृष्ण और प्रकाशित को शुक्ल कहते हैं। यह औपचारिक प्रयोग है, काला परदा पड़ने पर कुछ नहीं दीखता—इसलिए न दीखने वाली वस्तु काली कही जाती है। प्रकाश श्वेत मालूम होता है, इसलिए प्रकाशमान् वस्तु को श्वेत कहते हैं। कार्य जब तक उत्पन्न न हो, तब तक अपने कारण में निगूढ़ रहता है, उसका ज्ञान हमें नहीं होता, इसलिये कार्य की अपेक्षा कारणावस्था को कृष्ण और कार्योत्पत्ति-दशा को शुक्ल कहते हैं। सब जगत् जहाँ निगूढ़ है जहाँ आज दीखने वाले जगत् का कोई ज्ञान नहीं, उस सब जगत् की कारणावस्था—पूर्वावस्था को दृश्यमान् जगत् की अपेक्षा कृष्ण ही कहना पड़ेगा, इसीलिये सब जगत् के कारण भगवान् विष्णु या आद्याशक्ति कृष्णवर्ण ही कहे जाते हैं। इस कृष्ण का कभी अनुभव नहीं होता, यह केवल शास्त्रवेद्य है, इसलिए इसे अनुपाख्य-कृष्ण कहेंगे।

दूसरा अनिरुक्त-कृष्ण वह है, जिसका अनुभव तो हो, किन्तु इदमित्थम् रूप से एक केन्द्र में पकड़कर निर्वचन न कियो जा सके। जैसे ऊपर आकाश में, अन्धकार में या आंख मींच लेने पर काले रूप का अनुभव होता है किन्तु वह सर्वरूप का अभाव कालेपन से भासित है, किसी केन्द्र में पकड़कर उस काले रूप को निरुक्त नहीं किया जा सकता। तीसरा निरुक्त कृष्ण कोयला आदि पदार्थों में है। इनमें अनुपाख्य कृष्ण का अनिरुक्त कृष्ण में और अनिरुक्त कृष्ण का निरुक्त कृष्ण में अवतार होता है। दूसरे शब्दों में पूर्व-पूर्व कृष्ण से ही उत्तरोत्तर कृष्ण का विकास होता है। चन्द्रमा, पृथिवी और सूर्य ये तीनों मण्डल निरुक्त कृष्ण हैं, पृथिवी को वेद में कृष्णा कहा जाता है, वह किरणों का समूह है यह भी वेदों में प्राप्त होता है।

'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः

इत्यादि श्रुतियों में चन्द्रमा को भी कृष्ण कहा है, और

'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्।

इत्यादि मन्त्रों में सूर्यमण्डल को भी कृष्ण कहा है, और हिरण्यमय-प्रकाश भाग को सूर्य का रथ बताया है। तात्पर्य यह कि प्रकाशमण्डल संयोगज है, कई प्राणों के सम्वन्ध से वनता है। सूर्यमण्डल स्वभावतः कृष्ण ही है। आजकल के वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त के अनुकूल ही जा रहे हैं। अस्तु, इन तीनों से परे जो परमेष्ठी मण्डल है वह अनिरुक्त-कृष्ण है। रूपों का अधिदेवता सूर्य है, सूर्य से सब रूप वनते हैं, अतः सूर्यमण्डल की उत्पत्ति के पूर्व परमेष्ठी मण्डल में कोई रूप नहीं कहा जा सकता। उसे 'आपोमयमण्डल' या 'सोममयमण्डल' कहा जाता है। सोम, वायु, और आप तीनों एक ही द्रव्य की अवस्थाएं मानी जाती हैं। वायु घनीभूत होने पर 'आप' अवस्था में आ जाता है और तरल होने पर 'सोम' अवस्था में। इसी द्रव्य अवस्था में 'अनिरुक्त कृष्ण' वर्ण प्रतीत हुआ करता है। यह द्रव्य परमेष्ठी की किरणों द्वारा बहुत बड़े आकाश प्रदेश में व्याप्त है। सूर्य यद्यपि हमारे लिए बहुत बड़ा है, किन्तु इस सोममण्डल की अपेक्षा उसकी पोजीशन ऐसी हे जैसे घोर अन्धकारमय जङ्गल में एक टिमटिमाते दीपक की। एक सूर्य का

प्रकाश जहां तक पहुंचता है, उसकी परिधि की कल्पना कर वहां तक एक एक ब्रह्माण्ड समझा जाता है, उस परिधि से अनन्त आकाश में यह 'अनिरुक्त कृष्ण' या सोम भरा हुआ है। वही अनिरुक्त कृष्ण काले आकाश के रूप में प्रतीत हुआ करता है। वह कृष्ण है, और सूर्य प्रकाश की प्रतिमा 'राधा' है। 'राध' धातु का अर्थ है 'सिद्धि'। सूय प्रकाश में ही व्यावहारिक सब कार्य सिद्ध होते हैं, अतः 'राधा' नाम वहां अन्वर्थ सार्थक है। कृष्ण श्याम तेज है, और राधा गौर तेज। वह कृष्ण के अङ्क में अर्थात् श्याम तेजोमयमण्डल के बीच में विराजित है। ब्रह्माण्ड की परिधि के भीतर भी वह सोममण्डल व्याप्त है। जैसे व्यापक आकाश में कोई दीवार बनायी जाय तो हमें प्रतीत होता है कि अब यहां का आकाश—अवकाश नहीं रहा, किन्तु यह भ्रम है, उस दीवार के आधार रूप से आकाश वहां मौजूद है, उसी में दीवार है, और दीवार हटते ही फिर आकाश-ही-आकाश रह जाता है। इसी प्रकार सूर्य प्रकाश होने पर वह कृष्ण सोममयमण्डल हमें प्रतीत नहीं होता, किन्तु प्रकाश उसी के आधार पर है, वह प्रकाश में अनुस्यूत है, और प्रकाश हटते ही, सूर्यास्त होते ही फिर वह श्याम तेज प्रतीत होने लग जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर बिना अन्धकार के प्रकाश और बिना प्रकाश के अन्धकार कहीं नहीं रहता, दोनों, दोनों में अनुस्यूत हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जहां एक दीपक का प्रकाश हो, वहां दूसरा दीपक और लाया जाय, तो प्रकाश अधिक प्रतीत होता है, और तीसरा दीपक और आवे तो और भी अधिक। जितने दीपक अधिक होंगे उतनी ही प्रकाश में स्वच्छता आती जायगी। भला यह क्यों? जब एक दीपक के प्रकाश ने अपनी व्याप्ति के प्रदेश में से अन्धकार हटा दिया, तो फिर उसी प्रदेश में दूसरे दीपक का प्रकाश क्या विशेषता पैदा कर देता है कि हमें अधिक स्वच्छता प्रतीत होती है? मानना पड़ेगा कि एक दीपक का प्रकाश रहने पर भी उसमें अनुस्यूत अन्धकार था, जिसे दूसरे दीपक ने हटाया, फिर भी जो था, उसे तीसरे ने और चौथे ने। स्मरण रहे कि श्याम तेज ही अन्धकार रूप से प्रतीत हुआ करता है। यों प्रकाश में अनुस्यूत—श्यामतेज; जब सिद्ध हो गया, तो मानना होगा कि हजारों दीपों का या सूर्य का प्रकाश रहने पर भी आंशिक श्यामतेज की

व्याप्ति हट नहीं सकती, वह प्रकाश की तरह अनुस्यूत रहती ही है। दूसरा प्रमाण यह है कि जिस स्थान में अनेक दीपक हों, वहाँ भी एक दीपक के सम्मुख भाग में कोई लकड़ी आदि आवरक पदार्थ रक्खो, तो उसकी धीमी-सी छाया उसके सम्मुख भाग में प्रतीत होगी। जितने अंश में प्रकाश का आवरण होकर स्वतः सिद्ध तम दीख पड़ता है, उसे ही छाया कहते हैं। जब एक दीप के प्रकाश का आवरण होने पर भी दूसरे दीपों का प्रकाश उसी स्थान में मौजूद है, तो यह छाया की प्रतीति क्यों ? मानना होगा कि प्रकृत दीपक जिस अन्धकार के अंश को हटाता था—उसके प्रकाश का आवरण होने पर वह अंश छाया-रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार निविड़ अन्धकार में भी प्रकाश का कुछ भी अंश न रहे, तो अन्धकार का प्रत्यक्ष ही न हो सके। विना प्रकाश की सहायता के नेत्ररश्मि कोई कार्य नहीं कर सकती। सिद्ध हुआ कि गौरतेज और श्यामतेज—राधा और कृष्ण, अन्योन्य आलिङ्गितरूप में ही सदा रहते हैं, कभी कृष्ण के अङ्क में राधा छिपी हुई हैं, कभी राधा के अञ्चल में कृष्ण दुबक गये हैं। इसी से दोनों एक रूप माने जाते हैं, एक ही ज्योति के दो विकास हैं, और एक के विना दूसरे की उपासना निन्दित मानी गयी है—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥
'तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्'

(सम्मोहनतन्त्र, गोपालसहस्रनाम)

इस विष्णुरूप परमेष्ठिमण्डल का अवतार होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण का श्यामरूप था, और गौरवर्ण भगवती श्रीराधा से उनका अन्योन्य तादात्म्य-सम्बन्ध था, निरतिशय प्रेम था। वहाँ राधा (प्रकाशभाग) परमेष्ठिमण्डल की अपनी नहीं, परकीया है, इसलिए यहाँ भी राधा के साथ कृष्ण का विवाह सम्बन्ध नहीं है। परमेष्ठि-मण्डल को वेद में 'गोसव' और पुराण में 'गोलोक' कहा गया है, इसका कारण है कि गौ—जिन्हें किरण कह सकते हैं, उनकी उत्पत्ति परमेष्ठिमण्डल में ही होती है, आगे के मण्डलों में उन गौओं का विकास है, अतएव सूर्य और पृथिवी के प्राणों में 'गौ' नाम आया है। इन

गाओं का विवरण ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत है, ये प्राणविशेष हैं। हमारे 'गौ' नाम से प्रसिद्ध पशु में इस प्राण की प्रधानता रहती है, अतएव यह गौ भी हमारी आराध्य है। अस्तु, गौ का उत्पादक और पालक होने से परमेष्ठी गोपाल है, प्रथमतः गौ उसे प्राप्त हुई—इसलिये 'गोविन्द' है। अतएव, हमारे चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण भी परमेष्ठी का अवतार होने के कारण गौओं के सहचारी बने, और गोपाल या गोविन्द कहलाये। इसी प्रकार परमेष्ठी का इन्द्र से सख्य—साहचर्य है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का भी इन्द्रांश अर्जुन से साहचर्य-पूर्ण सौहार्द रहा।

आगे चन्द्रमण्डल भी अवतारों में (क्षर की आधिदैविक कलाओं में) आया है, उसके 'प्राणों' का प्रतिफल भी कृष्णचरितों में बहुत कुछ दीख पड़ता है। चन्द्रमा समुद्र में (आपोमयमण्डल) में रहता है—

'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।'
(ऋग्वेद)

इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण भी समुद्र के बीच में 'द्वारका' बसाकर रहे। चन्द्रमण्डल श्रद्धामय है, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण में भी श्रद्धा बहुत अधिक थी। सामान्य ब्राह्मणों के भी अपने हाथों से चरण धोना, स्वयं उनके चरण दबाना, देवयजन, शिवाराधन आदि श्रद्धा के बहुत से निदर्शन हैं। रासलीला का भी चन्द्रमा से बहुत सम्बन्ध है। चन्द्रमा राशिचक्र से रासलीला करता रहता है। प्राचीनकाल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से की जाती थी, उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रों की मध्यवर्तिनी होने से 'रासेश्वरी' है, उसका दूसरा नाम राधा भी है, अतएव उसके आगे के नक्षत्र को 'अनुराधा' कहते हैं। विशाखापर जिस पूर्णिमा को चन्द्रमा रहता है, उस दिन सूर्य कृत्तिकापर रहता है। सम्मुख स्थित सूर्य की सुषुम्णा रश्मि से विशाखायुत चन्द्रमा प्रकाशित होता है, कृत्तिका का सूर्य 'वृष' राशिका है। अतएव, यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर जब पूर्ण-चन्द्रमा (पूर्णिमा का चन्द्रमा) राधा के ठीक सम्मुख भाग में कृत्तिका पर आता है, तो कार्तिकी पूर्णिमा रासका मुख्य दिन है। ये सब घटनाएँ भगवान् श्रीकृष्ण की 'रासलीला' में भी समन्वित होती हैं।

जो यूरोपीय विद्वान् या उनके शिष्य हमारे इतिहासों को सर्वथा कपोलकल्पना मानते हैं, जिनके विचार में श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि कोई हुए ही नहीं—उन सर्वमिथ्यात्ववादी वेदान्तिशिरोमणियों से तो कहा ही क्या जा सकता है ? किन्तु जो इस प्रकृति के सज्जन हैं कि इतिहास तो मानते हैं, किन्तु उनमें आयी हुई 'अवतार' आदि अलौकिक घटनाओं में सन्देह करते हैं, वे यदि इस दृष्टि से विचार करेंगे, तो आशा है उन्हें भी भगवान् श्रीकृष्ण के पूर्णावतार होने में सन्देह नहीं रहेगा। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेमी भक्त भी श्रीकृष्ण के इस गुणानुवाद से 'श्रीकृष्ण-कथा' में कालयापन कर प्रसन्न होंगे, ऐसी आशा है।

— x —

शिवतत्त्व

शङ्कर को अर्द्धाङ्गभूता भगवती पार्वती जिस समय अद्‌भुत तपस्या में निरत थीं और उनकी प्रेम की परीक्षा के लिए स्वयं भगवान शङ्कर ने ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उनके सामने अपनी ही भरपेट निन्दा की थी, 'शङ्कर इतना दरिद्र है कि उसे वस्त्र तक पहिनने को नहीं मिलता, इसीसे दिगम्बर कहलाता है, वह श्मशानवासी है, उसका रूप ही भयङ्कर है,' इत्यादि अनेकानेक दोष जब अपने आप में बताये थे, उस समय पार्वती का उत्तर महाकवि कालिदास के शब्दों में यों अङ्कित हुआ है—

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां
त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते
न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।।

अर्थात् शिव परम दरिद्र होकर भी सब सम्पत्तियों के उद्‌गम स्थान हैं, सब सम्पत्तियां वहीं से प्रकट होती हैं, वे श्मशानवासी होकर भी तीनों लोकों के नाथ हैं, भयानक रूप में रहने पर भी उनका नाम 'शिव' है, सत्य तो यह है कि पिनाकधारी भोलानाथ का यथार्थ तत्त्व कोई जान ही नहीं पाया, वे क्या हैं और कैसे हैं—यह तत्त्व कोई नहीं जानता। यह भगवान् शङ्कर की अत्यन्त अन्तरङ्ग, परमशक्ति भगवती पार्वती की राय है।

इसी प्रकार बाल ब्रह्मचारी परमतत्त्वज्ञ भीष्मपितामह से नीति, धर्म और मोक्ष के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य का विवेचन सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर ने जब शिव महिमा के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो वृद्ध पितामह ने भी यही उत्तर दिया था कि—

अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः।
यो हि सर्वगतो देवो न च सर्वत्र दृश्यते ॥
(महा० अनु० १४।३)

जो सब में रहते हुए भी कहीं किसी को दिखाई नहीं देते, उन महादेव के गुणों का वर्णन करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूं।' 'मैं असमर्थ हूं' इतना ही कहकर भीष्मपितामह को सन्तोष नहीं हुआ, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कह दिया कि मनुष्य देहधारी कोई भी महादेव की महिमा नहीं कह सकता—

को हि शक्तो गुणान् वक्तुं देवदेवस्य धीमतः।
गर्भजन्मजरायुक्तो मर्त्यो मृत्युसमन्वितः

आगे भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को निराश होते देख इस प्रकार धैर्य दिलाया कि इस सभा में साक्षात् विष्णु के अवतार भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित हैं, वे शिव की महिमा कह सकते हैं, साथ ही स्वयं भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की कि आप युधिष्ठिर को और सब ऋषि-मुनि आदि को शिव महिमा सुनावें। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी यहां से प्रारम्भ किया कि 'हिरण्यगर्भ, इन्द्र, महर्षि आदि भी शिवतत्त्व जानने में असमर्थ हैं. मैं उनके कुछ गुणों का ही व्याख्यान करता हूं' ऐसी स्थिति में एक क्षुद्रातिक्षुद्र नर कीट का शिव महिमा की व्याख्या के लिए मुंह खोलना या लेखनी उठाना सर्वथा दुःसाहस या अनधिकार चेष्टा ही कही जा सकती है, किन्तु इसका उत्तर पुष्पदन्ताचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध 'महिम्नस्तोत्र' के आरम्भ में ही दे दिया है—

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥

'यदि आपकी महिमा को पूर्णरूप से बिना जाने स्तुति करना अनुचित हो तो ब्रह्मादि की भी वाणी रुक जायेगी। कोई भी स्तुति नहीं कर सकेगा. क्योंकि आपकी महिमा का अन्त कोई नहीं जान सकता। अनन्त का अन्त कैसे जाना जाय। तब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार

जो जितना समझ पाया है, उतना कह देने को उसका अधिकार दूषित न ठहराया जाय, तो मुझ जैसा तुच्छ पुरुष भी स्तुति के लिए कमर क्यों न कसे। कुछ तो हम जानते ही हैं, उतना क्यों न कहें ?

आकाश अनन्त है, सृष्टि में कोई भी पक्षी ऐसा नहीं, जो आकाश का अन्त पा ले, किन्तु इसलिए वे उड़ना नहीं छोड़ते, प्रत्युत जिसके पंखों में जितनी शक्ति है, उतनी उड़ान वह आकाश में भर लेता है। हंस अपनी शक्ति के अनुसार उड़ता है और कौआ अपनी शक्ति के अनुसार, यदि न उड़े, तो उनका पक्षि जीवन व्यर्थ ही हो जाय, फिर उन्हें पक्षी कहेगा ही कौन, इसी प्रकार अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अनन्त शिवतत्त्व में जितना समझ सकें उतना समझना और जितना समझा है उसके मनन के लिए परस्पर कहना और सुनना मनुष्य जीवन की सफलता के लिए सबका आवश्यक कर्तव्य है।

ईश्वर-निरूपण

शिव जगन्नियन्ता जगदीश्वर हैं। ईश्वर और महेश्वर शिव के पर्याय शब्द हैं, शिव के ही नाम हैं—यह अमरकोष पढ़ने वाला भी जानता है। श्रुति भी यही कहती है—

> एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
> र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
> प्रत्यङ्जनाँस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले
> संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥
> (श्वेताश्वतर० ३।२)

'एक ही रुद्र है, जो कि इन सब लोकों को अपनी शक्ति से वश में रखता है ; अतएव वह ईश्वर है, उसी की सब उपासना करते हैं, वह सब लोकों को उत्पन्न कर अन्त काल में संहार भी करता है, वही सब के भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित है,' इत्यादि। अतएव शिव-तत्त्व का विचार या ईश्वर तत्त्व का विचार एक ही बात है। ईश्वर का निरूपण वैदिक सिद्धान्त में दो भावों से है—एक वैज्ञानिक भाव से अर्थात् व्यापक रूप से ; दूसरा उपासना भाव से अर्थात् मनुष्य रूप में।

वैज्ञानिक रूप की भी मनुष्याकार कल्पना होती है और अवतार रूप से मनुष्याकारधारी भी ईश्वर होता है। इन दोनों रूपों में आश्चर्यजनक समानता होती है। अस्तु, वैज्ञानिक भाव में—ईश्वर का जगत् के साथ छः प्रकार का सम्बन्ध शास्त्र में बताया जाता है—

(१) 'जगति ईश्वरः'
(२) 'ईश्वरे जगत्,
(३) 'जगद् ईश्वर एव'
(४) 'जगद् ईश्वरश्च भिन्नौ'
(५) 'ईश्वरो जगतोऽतिरिच्यते, जगत्तु ईश्वरान्नातिरिच्यते,'
(६) 'ईश्वराद् भेदेन अभेदेन वा अनिर्वचनीयं जगत्'

अर्थात्—

(१) जगत् में ईश्वर है
(२) ईश्वर में जगत् है
(३) जगत् ईश्वर ही है
(४) ईश्वर और जगत् भिन्न-भिन्न हैं—ईश्वर जगत् से परे हैं
(५) ईश्वर जगत् से भिन्न है, किन्तु जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं
(५) जगत् अनिर्वचनीय है, भिन्न या अभिन्न कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ये सम्बन्ध देखने में परस्पर विरुद्ध होते हैं, किन्तु विचार दृष्टि से देखने पर उपादान-कारण के साथ कार्य के छहों प्रकार के सम्बन्ध व्यवहार में आते प्रतीत होते हैं।

वस्त्र में तन्तु हैं,
तन्तुओं के आधार पर वस्त्र है,
तन्तु ही पट रूपता को प्राप्त हो गये हैं

पट एक अतिरिक्त वस्तु (अवयवी) है जो तन्तुओं से उत्पन्न हुआ है।

तन्तुओं की सत्ता स्वतन्त्र है—तन्तु पट से पूर्व भी थे, आगे भी रहेंगे और जहां पट उत्पन्न नहीं हुआ वहां भी हैं किन्तु पट तन्तुओं से स्वतन्त्र अपनी सत्ता नहीं रखता।

कह नहीं सकते कि तन्तु और पट भिन्न-भिन्न हैं या एक हैं।

यों छहों प्रकार के व्यवहार लोक में भी उपादान और उपादेय में प्राप्त होते हैं। ईश्वर ने अपनी इच्छा से स्वयं ही जगद्रूप धारण किया है—

—एकोऽहं बहु स्याम्, प्रजायेय—

वह जगत् का उपादान कारण भी है और निमित्त-कारण भी, इसलिए उसके साथ जगत् के छहों प्रकार के सम्बन्धों का होना युक्ति-युक्त ही है। हां, तन्तु, पट आदि की अपेक्षा इतनी विशेषता यहां समझने योग्य है कि ईश्वर चेतन है, अतः वह जगत् को अपनी इच्छा से रचकर शासक रूप से भी उसके प्रत्येक अवयव में प्रविष्ट हो रहा है–

"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"

'ईश्वर जगत् को बनाकर उसी में अनुप्रविष्ट होता है।' यह श्रुति इस दूसरे रूप का ही वर्णन करती है, क्योंकि सृष्टि के अनन्तर प्रविष्ट होना इसमें बताया गया है—

एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

'हे गार्गि ! इसी अक्षर पुरुष के शासन—नियन्त्रण में सूर्य और चन्द्रमा ठहरे हैं।'

भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।

(कठोपनिषद्)

'इसी के भय से पवन चलता है, इसी के भय से सूर्य उदय होता है।' इत्यादि श्रुति भी शासक रूप से इसी प्रविष्ट रूप का वर्णन करती है।

लकड़ी, पत्थर, वृक्ष आदि जितने पार्थिव पदार्थ हम देखते हैं, उनमें वैज्ञानिक दृष्टि से दो प्रकार की प्राण रूप अग्नि है, एक वह जो उन पदार्थों की उत्पादक (उपादान-कारण) है और दूसरी उनमें उत्पत्ति के अनन्तर प्रविष्ट हुई है। इन दोनों का नाम वैदिक परिभाषा में क्रम से 'चित्य' और 'चतेनिधेय' है। जिसका चयन हुआ है, तह-पर-तह के क्रम से जिसकी चुनाई होकर ये सब वस्तुएं बनीं हैं, वह 'चित्य' अग्नि है और वस्तु बन जाने पर समुदाय पर जो प्राणशक्ति बैठकर उसे अपने

स्वरूप में रखती है, वह 'चिते निधेय' (चुने हुए पर ठहरने वाली) कहलाती है। इस प्राणशक्ति की व्याप्ति उस स्थूल वस्तु की सीमा तक ही नहीं रहती, किन्तु यह उसकी परिधि से बाहर भी बहुत दूर तक व्याप्त रहती है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आकार को हमारे नेत्रों तक लाकर हमें दिखाना, फोटोग्राफी के आईने में वस्तु के आकार को ले आना, उत्कट, गरम वा ठण्डे पदार्थ की गर्मी वा सर्दी का दूर तक प्रभाव होना, अत्यन्त प्रकाशमान पदार्थ का दूर से ही आंखो को चौंधिया देना, इमली के वृक्ष के नीचे जाते ही वायु का प्रभाव हो जाना या नीम के वृक्ष के नीचे सोने बैठने से आरोग्य प्राप्त होना आदि शतशः इस दूसरी (चिते निधेय) प्राणशक्ति के ही कार्य हैं। वैदिक विज्ञान बहुत कुछ इसी पर निर्भर है। इसी प्रकार ईश्वर भी उपादान रूप से और शासक रूप से—दोनों प्रकार से सब जगत् में प्रविष्ट माना गया है। इस प्रकार ईश्वर के तीन रूप हैं—सृष्ट, प्रविष्ट और विविक्त। जो जगत् का उपादान कारण बना है—वह सृष्ट रूप कहा जाता है, जो उसका शासन कर रहा है—वह प्रविष्ट रूप है और—

पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(पुरुषसूक्त)

'यह सम्पूर्ण भूतग्राम उस परमात्मा का एक पाद है, शेष तीन पाद तो उसके अमृतरूप में प्रकाशमान रहते हैं।'

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०-४२)

'मैं सम्पूर्ण जगत् में एक अंश से व्याप्त होकर उसका धारण करता हुआ विराजमान हूं।' इत्यादि श्रुतिस्मृति द्वारा जो जाना जाता है, वह जगत् से असंस्पृष्ट शुद्ध रूप ईश्वर का तीसरा 'विविक्त' रूप है, इन्हीं तीनों को क्रम से 'विश्व', 'विश्वचर' और 'विश्वातीत' नामों से भी कहा जाता है।

पशुपति या प्रजापति

विश्व को 'सत्य' या 'प्रजापति' भी कहते हैं। उसमें तीन भाग हैं, आत्मा, प्राण, और प्रजा या पशु। शैव दर्शन में इन तत्त्वों को 'पशुपति', 'पाश' और 'पशु' कहा जाता है। निरूपण की परिभाषा

भिन्न-भिन्न होने के कारण परस्पर थोड़ा बहुत भेद हो जाता है ; किन्तु मूल तत्त्व सब जगह एक ही रहते हैं, शब्दों का ही भेद रहता है। कार्य जगत् या जगत् का बाह्य रूप 'पशु' नाम से कहा जाता है, इसमें जड-चेतन दोनों नामों से कहे जाने वाले सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। जीव भाव में रहता हुआ जीव भी 'पशु' श्रेणी में ही आता है, जीवभाव उसका जगत् सम्बन्धी रूप है। इन सबका नियमन करने वाला या उत्पन्न करने वाला, सबका पिता, सबका स्वामी तथा आत्मा ईश्वर या पशुपति है, और वह जिन साधनों से इन्हें उत्पन्न करता है या बांधकर वश में रखता है, वे 'प्रकृति' या 'प्राण' पाश कहे जाते हैं। प्रकृति पाश, प्रजा या पशु आत्मा से सर्वथा पृथक् नहीं कहे जा सकते, इस कारण तीनों की समष्टि का भी प्रजापति या पशुपति नाम से निर्देश हुआ है। अस्तु. ये आत्मा और प्राण आदि शब्द सापेक्ष होने के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों में अपेक्षाकृत व्यवहार में आते हैं। किसी दृष्टि से जो प्राण है, दूसरी दृष्टि से वह 'आत्मा' भी हो सकता है। एक दृष्टि से जिसे 'पशु' कह सकते हैं, दूसरी दृष्टि से वह 'आत्मा' भी हो सकता है। जैसे श्रुति के सिद्धान्त में इस सब जगत् का मूल तत्त्व एक है, वह सब नाम रूप से परे, सब गुण धर्मों का मूल होने के कारण उनसे रहित स्वतन्त्र एक निर्विशेष-तत्त्व है, जो मन और बुद्धि की पहुंच के बाहर है। यद्यपि गुण-धर्म से रहित होने के कारण उसका वाचक कोई शब्द नहीं हो सकता, तथापि व्यवहार के लिए उसे 'रस' नाम से पुकारते हैं—'रसो वै सः' (तैत्तिरीय श्रुति)। वह मुख्य 'आत्मा' है, सबका आत्मा होने के कारण उसे 'परमात्मा' भी कह सकते है। वह निर्विकार होने के कारण जगत् का कारण नहीं बन सकता, इसलिए जो उसकी आत्मभूत 'शक्ति' सृष्टि, प्रलय और स्थिति के कारण रूप से मानी जाती है, वह बल या शक्ति प्राण रूप है और इससे आगे उत्पन्न होने वाले पुरुष, प्रकृति आदि सब 'पशु' हैं। यह एक दृष्टि हुई। यह निर्विशेष 'क्षर', 'अक्षर' और 'अव्यय' तीनों पुरुषों से भी पर—उनका भी आत्मा है, यही शिव का मुख्य रूप 'परमशिव' है।

अदृष्टव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः।

(माण्डूक्योपनिषद् ७)

यह श्रुति निर्विशेष रूप का ही वर्णन करती है और उसे ही शिव कहती है। इस रूप की उपासना नहीं हो सकती, क्योंकि यह मन में नहीं आ सकता। 'नेति-नेति' कहकर श्रुति किसी प्रकार उसका परिचय कराती है, कर्म या उपासना से उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं बन सकता, किन्तु यह भी सिद्धान्त है कि लक्ष्य हमारा वही है। आगे उत्पन्न होनेवाले प्रतीकों के द्वारा उसी की उपासना की जाती है, मुख्य आत्मा वही है, वही प्राप्य मुख्य लक्ष्य है।

शक्ति सहित आत्मा या बल विशिष्ट रस 'परात्पर' कहलाता है। बल या शक्ति जब माया रूप से प्रकट होकर अपरिच्छिन्न रस को परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) कर लेती है, तब अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। उसकी पांच कलायें हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। क्रम से बलों की चित्ति होकर अक्षर पुरुष और आगे उसी से क्षर पुरुष भी प्रकट हो जाता है। अब इस दशा में अव्यय पुरुष 'आत्मा', अक्षर 'प्रकृति' वा 'प्राण' और क्षर 'पशु' कहा जाता है। अर्थात् 'क्षर' रूप पशु के लिये 'अव्यय' पशुपति और अक्षर पाश है। दूसरे शब्दों में अव्यय ईश्वर, अक्षर प्रकृति और क्षर जगत् है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अव्यय पुरुष को ही 'ईश्वर' कहा है। नारायणोपनिषद् में भी अव्यय की कलाओं का प्रतिसञ्चार (विपरीत) क्रम से जन्यजनकभाव कहा गया है—

अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानाम्, प्राणैर्मनो, मनसश्च विज्ञानम् विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः, स वा एष पुरुषः पञ्चधा, पञ्चात्मा, येन सर्वमिदं प्रोतम् ....

ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च
भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वान्।

(नारायणोपनिषद् ७९)

इन पांचों कलाओं के अधिष्ठाता रूप से भगवान् शङ्कर के पांच रूप माने जाते हैं, जिनके भिन्न-भिन्न ध्यान तन्त्र ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। आनन्दमय रूप की 'मृत्युञ्जय' नाम से उपासना होती है, क्योंकि 'रस' स्वयं आनन्दरूप है—

'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'

बल जिसका दूसरा नाम मृत्यु भी है, उस आनन्द का तिरोधान करता है। मृत्यु (बल) का जय करने से, मन से हटा देने से आनन्द प्रकट होता है, आनन्द ही मृत्यु का जय करके प्रकट हुआ करता है। इसलिए आनन्द 'मृत्युञ्जय' है।

दूसरी कला विज्ञानमय शङ्करमूर्ति की 'दक्षिणामूर्ति' नाम से उपासना प्रसिद्ध है। 'विज्ञान' बुद्धि का नाम है, उसका घन 'सूर्य-मण्डल' है, सूर्यमण्डल से ही विज्ञान सौर-जगत् के सब प्राणियों को प्राप्त होता है। सूर्य सौर-जगत् के केन्द्र में स्थित है, वृत्त (मण्डल) में केन्द्र सबसे उत्तर माना जाता है। यह वृत्त की परिभाषा है, अतः विज्ञान उत्तर से दक्षिण को आने वाला सिद्ध हुआ। इसी कारण विज्ञानमय मूर्ति 'दक्षिणामूर्ति' कही जाती है। 'वर्णमातृका' पर यह मूर्ति प्रतिष्ठित है। विज्ञान का आधार वर्णमातृका है। ये दोनों (मृत्युञ्जय और दक्षिणामूर्ति) प्रकाश प्रधान होने के कारण श्वेतवर्ण माने जाते हैं।

तीसरी मनोमय (अव्यय पुरुषकी) कला का अधिष्ठाता 'कामेश्वर' शिव है। मन काम प्रधान है–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्। (श्रुति)

इस कारण इसका 'कामेश्वर' नाम है और मन के धर्म अनुराग का वर्ण 'रक्त' माना जाता है. इसलिए यह कामेश्वरमूर्ति तन्त्रों में रक्तवर्ण मानी गयी है। पञ्चप्रेतपर्यङ्कपर शक्ति के साथ विराजमान इस कामेश्वरमूर्तिकी उपासना तान्त्रिकों में प्रसिद्ध है।

चौथी कला 'प्राणमय मूर्ति' 'पशुपति', नीललोहित' आदि नामों से उपासित होती है। यह पञ्चमुखी मूर्ति है। आत्मा-पशुपति, प्राणरूप पाश के द्वारा विकाररूप पशुओं का नियमन करता है—यह पूर्व कह चुके हैं, अतः प्राणमय मूर्ति को ही 'पशुपति' कहना युक्तियुक्त है।

प्राण वैदिक परिभाषा में दो प्रकार का है, एक आग्नेय, दूसरा सौम्य। अग्नि का वर्ण लोहित-सुनहरा और सोम का नील वा कृष्ण माना गया है।

'यच्चाग्ने रोहितं रूपम्,'
'तेजसस्तद्रूपम्,'
'यच्छुक्ले तदपाम्,'
'यत्कृष्णं तदन्नस्य'

(छान्दोग्योपनिषद् ६ प्रपा० ४खं०) सोम ही अन्न होता है, इस कारण यहां अन्न शब्द से सोम का निर्देश हुआ है, इसीलिये यह मूर्ति 'नीललोहित कुमार' नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों रूपों के सम्मिश्रण से पांच रूप बनते हैं—इसलिये पांच वर्ण के पांच मुखों का ध्यान इस मूर्ति का ध्यान कहा गया है—

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम् ।
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्राघण्टाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥

सोम (कृष्णवर्ण) पर जब अग्नि (लोहित) आरूढ़ हो तो धूमिल रक्त होता है और अग्नि पर सोम आरूढ़ हो तो पीतरूप हो जाता है। सोम और अग्नि की मात्रा के तारतम्य से और भी मोतिया, बैंगनी, हरित आदि रूप बनते हैं।

इस पञ्चमुख मूर्ति का एक मुख सबके ऊपर है और चार मुख चारों दिशाओं में। ऊर्ध्वमुख तत्पुरुष नाम से, दक्षिण अघोर नाम से, उत्तर वामदेव नाम से और पश्चिम सद्योजात नाम से पूजा जाता है।

पांचवीं कला वाङ्मयमूर्ति 'भूतेश' नाम से उपास्य है। वाक्, अन्न और भूत—ये शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं, यही 'भूतेश' शिव अष्टमूर्तिमाने जाते हैं।

यह अव्यय पुरुष सर्वात्मा, सर्वाधार, सबका आयतन है। जो दूसरे प्रकार की शिवमूर्तियां हैं, वे भी इससे पृथक् नहीं, सब इसी का विस्तार हैं।

यह बताया जा चुका है कि तीनों पुरुषों का प्रादुर्भाव होने पर अव्यय पुरुष आत्मा वा पशुपति, अक्षर पुरुष प्राण वा पाश और क्षर पुरुष विकार वा पशु समझा जाता है—यह दूसरी दृष्टि हुई। क्षर

पुरुष के प्रथम विकार— प्राण, अप्, वाक्; अन्नाद और अन्न—ये पांच जब प्रादुर्भूत होने हैं, तो अव्यय पुरुष आत्मा, अक्षर और क्षर दोनों उसकी परा और अपरा-प्रकृति वा प्राण और अप् आदि पाँचों विकार कहे जाते हैं, इन्हीं को इस दृष्टि से पशुपति, पाश और पशु कहा जाता है। आगे जब क्रम से प्राण आदि पाँचों तत्व परस्पर पञ्चीकरण के द्वारा आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूपों में विस्तृत होते हैं और आधिदैविक रूप में इनके स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा; आध्यात्मिक रूप में अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर एवं आधिभौतिक रूप में गुहा (सत्य वा आकाश) अप् ज्योति, रस और अमृत—ये नाम पड़ते हैं, तब अव्यय, अक्षर और क्षर—ये तीनों 'पुरुष' 'आत्मा' वा 'पशुपति' प्राण आदि पाँचों पूर्वोक्त 'प्रकृति' 'प्राण' वा 'पाश' और ये आधिदैविक आदि सब रूप 'विकार' वा 'पशु' कहे जाते हैं। आधिदैविक आदि रूपों में भी पुरुष और प्रकृति से अनुगत स्वयम्भू और परमेष्ठी का एक संमुग्धरूप 'पशुपति,' सूर्य और चन्द्रमा 'पाश' और पृथिवी 'पशु, कहे जाते हैं। यों ही सौर-जगत् की दृष्टि से सूर्य पशुपति (आत्मा) सूर्यरश्मि पाश और पृथिवी, चन्द्रमा आदि पशु होते हैं। आगे इन पाँचों मण्डलों में जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनकी दृष्टि से ये मण्डल पशुपति और वे जन्य पदार्थ पशु समझे जाते हैं। जैसे पृथिवी में उत्पन्न होने वाले ओषधि, पार्थिव शरीर आदि के लिए पृथिवी ही 'पशुपति' है पृथिवी का आकर्षण पाश है और वे ओषधि आदि पशु हैं। आगे अग्नि के भेदों में भी पांच प्रकार के पशुओं का उल्लेख है और नियन्ता ईश्वर के प्रकरण में 'ऋत' पदार्थों को 'पशु' कहा गया है, वहाँ 'पशुपति' भी भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार दृष्टिभेद से शब्द-व्यवहार में भेद हो जाता है। नियामक को ईश्वर, आत्मा या पशुपति, नियम्यको विकार या पशु और जिसके द्वारा नियमन हो उसे प्राण या पाश कहा जाता है; किन्तु ये सब पदार्थ वैदिक सिद्धान्त में एक ही मूलतत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं, इसलिए अनेकेश्वरवाद का वैदिक दृष्टि में कोई प्रसङ्ग नहीं आता। अव्यय पुरुष की भावना से ही हम भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना किया करते हैं, अविकार के अनुसार उपास्यरूप में भेद होता है, किन्तु लक्ष्य एक है, उसमें किसी का भेद नहीं।

अक्षर पुरुष और महेश्वर

कह चुके हैं कि अव्यय पुरुष सबका आलम्बन है, किन्तु वह कार्य और कारण दोनों से अतीत है। वह न जगत् है, न जगत्कर्ता, जगत् और जगत्कर्ता दोनों का आलम्बन अवश्य है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। (श्रुति)
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि। (गीता)

इत्यादि विचित्र भावों से श्रुति-स्मृति में उसका वर्णन मिलता है। जब बलों की ग्रन्थि होकर बलप्रधान अक्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है, तब जगत् की सृष्टि का उपक्रम होता है। अतः सृष्टिकर्ता ईश्वर 'अक्षर' पुरुष को ही कहते हैं। अव्यय अक्षर और क्षर, ये तीनों पुरुष कभी पृथक् पृथक् नहीं रहते। जहाँ क्षर है, वहाँ अक्षर और अव्यय भी अवश्य है। अक्षर भी बिना अव्यय के निरालम्ब कभी नहीं रहता। विशिष्टरूप एक है और वही उपलब्ध होता है, अपेक्षाकृत दृष्टिभेद से तीनों पुरुषों का विभाग है।

अक्षर पुरुष, जो कि जगत् का निमित्तकारण है, ईश्वर है। वह बलप्रधान है; बल के नाम शक्ति, प्राण और क्रिया भी हैं। सोता हुआ बल शक्ति-नाम से, जागकर कार्य करने को उद्यत होने पर प्राण नाम से और कार्यरूप में परिणत होने पर क्रिया नाम से पुकारा जाता है। शक्ति या बल तीन प्रकार से सब पदार्थों में लक्षित होता है—गति, आगति और प्रतिष्ठा। प्रत्येक पदार्थों में से प्रतिक्षण प्राणों की गति वा उत्क्रान्ति होती रहती है। किन्तु केवल उत्क्रान्ति ही हो तो सब पदार्थों का प्रतिक्षण समूल नाश हो जाय, इसलिए जैसे गति है वैसे आगति (आगम) भी है। जगत् के सब पदार्थ प्रतिक्षण लेते और देते रहते हैं, इसी व्यवहार को दार्शनिक परिभाषा में 'आदान' और 'विसर्ग' कहते हैं।

सूर्यमण्डल में आदान और विसर्ग स्फुट रूप से हमें दिखाई देते हैं। सूर्य अपनी किरणों से सब पदार्थों को ताप देता है, ओषधि आदि का परिपाक करने में अपनी शक्ति लगाता है तथा चारों ओर

से जल, रस या सोम को लेता भी रहता है। न केवल सूर्य, किन्तु पृथिवी भी अपना बल पार्थिव पदार्थों को देती रहती है और आकर्षण द्वारा उनमें से कुछ लेती भी रहती है। किसी भी पदार्थ में आदान-विसर्ग न हों, तो वह कभी परिवर्तित न हो, पुराना न पड़े, सदा एक रूप रहे, किन्तु एक रूप में कोई भी पदार्थ रहता नहीं, इससे सब में आदान और विसर्ग का होना सिद्ध है। जब आदान अधिक होता है और विसर्ग न्यून, तो सब पदार्थ बढ़ते हैं, बाल्यावस्था से युवावस्था में जाते हैं और इसके विपरीत आदान की अपेक्षा विसर्ग जब अधिक होता है, तब घटने की बारी आती है, इससे ही जरा (वृद्धावस्था) आती है।

आदान और विसर्ग के द्वारा परिवर्तन होता रहने पर भी पदार्थ में जो सत्ता—स्थिरता—एकरूपता प्रतीत होती है उससे तीसरा प्रतिष्ठा-बल भी स्वीकार करना पड़ता है। बौद्ध दर्शन में केवल आदान-विसर्ग ही माने जाते हैं, इससे वहाँ प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक कहा गया है, किन्तु इस क्षणिकता को उच्छृङ्खल मान लेने पर व्यवहार क लोप हो जायगा। 'स एवायम्' यह वस्तु वही है—यह प्रत्यभिज्ञा सबको होती है और इसी के आधार पर सारे जगत् का व्यवहार चलता है। एक कुम्हार बड़े परिश्रम से बड़ा पक्का घड़ा बनाता है और इञ्जीनीयर बड़े कला-कौशल से मशीन बनाता है। 'अपना बनाया घड़ा और अपनी बनायी मशीन एक क्षण में ही नष्ट हो जायगी, ऐसी सम्भावना इन्हें हो तो ये कभी बुद्धि और शरीर का श्रम न करें। हमारे बोये आम के बीज से एक वृक्ष लगेगा और वह चिरस्थायी होकर फल देता रहेगा, ऐसा विश्वास न हो तो कोई भी चतुर माली सुयोग्य स्थान में वृक्ष लगाकर उसे सींचने का प्रयास न करे। ऐसी बहुत-सी युक्तियों से क्षणिकवाद का निराकरण कर वैदिक दर्शन में प्रतिष्ठा बल भी माना जाता है। बल की इन तीनों अवस्थाओं के अधिष्ठाता अक्षर पुरुष के भी तीन रूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र। प्रतिष्ठा बल का अधिष्ठाता ब्रह्मा है, आदान का विष्णु और विसर्ग या उत्क्रान्ति का इन्द्र। ये तीनों ईश्वर के रूप हैं। बारह आदित्यों में जो विष्णु और इन्द्र हैं या अन्तरिक्ष का देवता जो इन्द्र है, वे देवता रू

इन्द्र या विष्णु आगे उत्पन्न होने वाले हैं, उनको और इनको एक नहीं सलझना चाहिए।

इन तीनों की स्थिति स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा या इन मण्डलों से उत्पन्न होने वाले सब पदार्थों के केन्द्र या हृदय में रहती है, दूसरे शब्दों में यही तीनों इन सब मण्डलों या इनके अध्यात्मिक और आधिभौतिक रूपों को बनाकर उनमें विराजमान होते हैं। ऋग्वेद संहिता का एक (६।६।६९) सूक्त इन्द्र और विष्णु सूक्त है, उसका सूक्ष्मदृष्टि से मनन करने पर यह तत्त्व स्फुट होता है। उसका अन्तिम मन्त्र है—

उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे
न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां
त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्॥

इसका अर्थ है कि इन्द्र और विष्णु दोनों ही विजय करने वाले हैं, ये कभी नहीं हारते और इन दोनों में भी कोई एक नहीं हारता। ये दोनों स्पर्द्धा (युद्ध) करते रहते हैं और इसी से तीन प्रकार के 'सहस्र' को प्रेरित करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (६–१५) में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए तीन प्रकार के 'सहस्र' का अर्थ लोकसहस्र, वेदसहस्र और वाक्सहस्र किया है। लोक, वेद और वाक् ही अक्षर पुरुष से निकल कर सब संसार के उपादान–कारण होते हैं। यह वैदिक विज्ञान का एक जटिल विषय है। शतपथब्राह्मण (काण्ड ११, अ० १ ब्रा० ६) में भी क्षर और अक्षर की कलाओं का निरूपण प्राप्त होता है। अन्यान्य स्थानों में भी इनका निरूपण ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा हुआ है।

उत्क्रान्ति और आगति के साथ जब प्रतिष्ठा बल का सम्बन्ध होता है, तो क्रम से अग्नि और सोम नाम की दो कलाएं और प्रकट हो जाती हैं। यहां भी यह स्मरण रहे कि जिसे हम अग्नि कहते हैं वह भौतिक अग्नि तथा रस रूप सोम अभी बहुत पीछे उत्पन्न होने वाले हैं। ये अग्नि और सोम अक्षर पुरुष के केवल शक्तिविशेष हैं, ये 'मैटर' नहीं हैं। बाह्य गतिशील (भीतर से बाहर को जानेवाली) प्राणशक्ति को अग्नि और अन्तर्गतिशील (बाहर से भीतर की ओर जाने वाली) प्राण

शक्ति को सोम कहा जाता है। अग्नि विकासशील है और सोम सङ्कोचशील (सिकुड़ने वाला)। अग्नि विरलभाव (पतलापन) करने वाला है, तो सोम घनीभाव (ठोसपन, मोटापन) करनेवाला। किसी भी वस्तु का विकास या प्रसारण होते होते जब अन्तिम सीमा पर पहुंच जाता है, जहां से आगे विकास सम्भव ही न हो, प्रत्येक अवयव विशकलित (पृथक् पृथक्) हो चुका हो, तब फिर स्वभावतः सङ्कोचन आरम्भ हो जाता है, इसलिए वैज्ञानिक क्रिया में ऐसा समझा गया है कि अग्नि ही सोम बन जाता है और सोम फिर अग्नि में गिरते ही अग्निरूप हो जाता है। इन्ही विकास और सङ्कोचन के परिणामरूप पिण्डों सूर्य, पृथिवी आदि गोलों) की उत्पत्ति होती है और उन पिण्डों में भी ये ही अग्नि और सोम बराबर यज्ञ करते रहते हैं। यों अक्षर पुरुष की पांच कलाए सिद्ध हुई—ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, अग्नि और सोम। इनमें आदि के तीन अन्तश्चर, अन्तर्यामी या हृद्य (केन्द्रों में रहने वाले) और आगे के दोनों अग्नि और सोम बहिश्चर (पिण्ड में रहने वाले) या सूत्रात्मरूप हैं।

आदि के तीन रूपों में प्रतिष्ठा बल-ब्रह्मा और आदान बल इन्द्र केन्द्र में ही अपना-अपना कार्य करते हैं, किन्तु उत्क्रान्ति बल इन्द्र केन्द्र में रहता हुआ भी केन्द्रस्थ शक्ति को बाहर फेंकनेवाला है, इसलिए वह वह स्वयं भी उत्क्रान्त होता है अर्थात् बाहर जाता है। बाहर जाने पर अग्नि और सोम के साथ भी उसका योग होता है। सूक्ष्म दृष्टि से कहा जा सकता है कि अग्नि और सोम का प्रादुर्भाव उत्क्रान्ति के कारण ही है, अतः वे दोनों इन्द्र के ही रूपान्तर हैं।

इन्द्र, अग्नि और सोम इन तीनों सम्मिलित शक्तियों का नाम 'महेश्वर' या 'शिव' है। अक्षर पुरुष जगत्कर्ता ईश्वर कहलाता है, उसकी प्रत्येक कला भी 'ईश्वर' है किन्तु तीन कलाएं जहां सम्मिलित हों, उस रूप को महत्व के कारण 'महेश्वर' कहा जाता है। इसीलिए भगवान शङ्कर 'त्रिनेत्र' हैं, वे तीन बलों के नेता हैं। श्रुति में भी उनका नाम 'त्र्यम्बक' है और पुराणादि में स्पष्ट ही उनके तीन नेत्रों के नाम बताए गए हैं—

वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्निनयनम्

सूर्यमण्डल 'इन्द्रप्रधान' है—

यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।

(श्रुति)

'जैसे पृथिवी के गर्भ में अग्नि है, वैसे सूर्यमण्डल के गर्भ में इन्द्र है।' चन्द्रमा का 'सोम' मण्डल होना प्रसिद्ध ही है और अग्नि तो अग्नि है ही, यों इन्द्र, अग्नि और सोम, तीनों की समष्टि का महेश्वर होना स्पष्ट बताया जाता है। यद्यपि अक्षर की कलाएं शक्तिरूप हैं, प्रत्यक्ष दृश्य भौतिक अग्नि, सोम, सूर्य आदि से बहुत परे हैं, किन्तु उन अदृश्य शक्तियों का परिचय शास्त्र हमें इन सूर्य आदि के द्वारा ही देता है। यदि ऐसा न किया जाय तो उन अदृश्य शक्तियों का ज्ञान न हो। ईश्वर की उपासना प्रकृति को या जगत् को आलम्बन या प्रतीक बनाकर ही की जाती है। इन सूर्य पृथिवी आदि मण्डलों की परिचालिका भी तो वही अक्षर शक्ति है, इन्हीं में कार्य करती हुई उस शक्ति को हम पाते हैं और इनमें ही उसकी दृष्टि रखकर उपासना करते हैं। यही क्यों, वह शक्ति भी तो इन्हीं पाचों के द्वारा हमारा नियमन करती है। इसलिए भगवान् शिव इन तीनों नेत्रों से सब जगत् को देखते हैं, या सब जगत् इनके द्वारा उन्हें देखता है, नेत्रों से ही मनुष्य का भाव पहचाना जाता है। किसी भी प्रकार से उलट-पुलट कर समझ लीजिये, वैज्ञानिक भाषा में सब तरह कहा जा सकता है।

तीन बलों की समष्टि होने के कारण तीनों के धर्म शिव में व्यवहृत होते हैं। इन्द्र की उत्क्रान्ति से ही वस्तु का विनाश होता है जब आमद से व्यय अधिक हो, तो शनैः शनैः जीर्ण होकर प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप को खो देता है, इसी दृष्टि से महेश्वर को 'संहारक' या 'प्रलयकर्ता' कहा जाता है। आदान से (बाहर से खुराक लेने से) वस्तु का पालन होता है और आदान ही यज्ञ है, इसलिए विष्णु पालक या यज्ञरूप हैं और प्रतिष्ठा से ही वस्तु का स्वरूप बनता है, इसलिए ब्रह्मा को 'उत्पादक' कहा जाता है, किन्तु यह सब अपेक्षाकृत है। एक वस्तु की दृष्टि से जिसे 'उत्क्रान्ति' कहते हैं, दूसरी वस्तु के लिए वही 'प्रतिष्ठा' या 'आगति' (आदान) हो जाती है। जैसे दीपशिखा उत्क्रान्ति हुई, उससे कज्जल की प्रतिष्ठा (जन्म) हो गयी। समुद्र से जल की उत्क्रान्ति हुई,

उससे मेघ का जन्म हो गया। सूर्यमण्डल से किरणों की उत्क्रान्ति हुई, इससे पृथिवी या पार्थिव औषधि आदि का पालन होता है। सूर्य से प्रकाश उत्क्रान्त हुआ, उससे चन्द्रमण्डल प्रकाशित या पालित हो गया। सूर्य ने रस का आदान किया, इससे जल का सरोवर सूख गया यही न्याय सृष्टि और प्रलय में भी चलता है। स्वयम्भू आदि मण्डलों से प्राणों की उत्क्रान्ति होकर परमेष्ठी सूर्य आदि नये-नये मण्डल बनते हैं, सूर्य से पृथिवी बनती है और वह इसकी शक्तियों को अपने में ले लेता है, तो यह लीन हो जाती है। तात्पर्य यह है कि एक का 'आदान' दूसरे की दृष्टि से विसर्ग और एक का विसर्ग दूसरे की दृष्टि से आदान कहा जा सकता है। एक का विनाश दूसरे का उत्पादक है। बीज नष्ट हुआ, अंकुर ने जन्म लिया, इसलिए आदान और विसर्ग में ही प्रतिष्ठा भी अनुगत है। इसी विचार से स्पष्ट कहा जाता है कि—

एका मूर्तिस्त्रयो देवाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः

ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही हैं। एक ही अक्षर पुरुष के तो तीन रूप हैं, एक ही शक्ति के तो तीन व्यापार हैं, दृष्टिमात्र का भेद है। एक ही बिन्दु पर तीनों शक्तियां रहती हैं, किन्तु कार्यवश कभी भिन्न-भिन्न स्थान-भेद देखा गया है. वहां प्रतिष्ठा बल मध्य में और गतिबल और आगतिबल इधर-उधर रहते हैं। जैसा कि मनुष्य-शरीर के अन्तर्गत हृदय कमल में ब्रह्मा की, नाभि में विष्णु की और मस्तक में शिव की स्थिति मानी गयी है। मनुष्य-शरीर पार्थिव है, पृथिवी से जो प्राण मानव-शरीर में आता है, वह नीचे से ही आता है। इसलिए आदान-शक्ति के अधिष्ठाता विष्णु की स्थिति नाभि में कही गई है और उत्क्रमण उससे विपरीत-दिशा में होना सिद्ध ही है; इससे महेश्व की स्थिति शिरो-भाग में मानी जाती है। सम्पूर्ण शरीर की प्रतिष्ठा हृदय है, हृदय में ही एक प्रकार की ज्योति याज्ञवल्क्यस्मृति आदि में बतायी जाती है, वहीं से सब शरीर को चेतना मिलती है, अतः वह ब्रह्मा का स्थान है। सन्ध्योपासन में इन्हीं स्थानों से इन तीनों देवताओं का ध्यान होता है, किन्तु वृक्षों में यह स्थिति कुछ बदल गयी है, वहां के लिये यों कहा जाता है—

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः॥

यहां अश्वत्थ को प्रधान वृक्ष मानकर उपलक्षणरूप से अश्वत्थ का नाम लिया गया है, सभी वृक्षों की स्थिति इसी प्रकार है। उनकी प्रतिष्ठा (जीवन) मूलपर निर्भर है, इसलिये मूल में ब्रह्मा है। मूल से जो रस आता , उसके द्वारा वृक्ष का पालन व पोषण मध्यभाग से होता है। आया हुआ रस यज्ञ द्वारा गूदा, त्वचा आदि के रूप में मध्यभाग में ही परिणत होता है, इससे यज्ञरूप पालक विष्णु की स्थिति मध्य में मानी गयी है और यह रस ऊपर के भाग से उत्क्रान्त होता रहता है; इसी से वृक्ष के ऊपरी भाग से शाखा, पत्ते आदि निकलते रहते हैं। अतएव उत्क्रान्तिका अधिपति महेश्वर वहां भी अग्रभाग में ही माना गया है। यह सब इन्द्रप्राणरूप से महेश्वर की उपासना है।

रुद्र और शिव

अग्नि और सोम के सम्बन्ध को लेकर भी शिव-तत्त्व का विचार आवश्यक है, क्योंकि तीनों प्राणों की समष्टि का नाम 'महेश्वर' था 'शिव' है। अग्नि को 'रुद्र' कहते हैं। 'अग्निर्वै रुद्रः' (शतपथब्रा० ५।४।१।१०, ६।१।३।१०), 'अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता' (शतपथब्रा० ९।१।१।१) इत्यादि अनेकानेक श्रुतियों में अग्नि को 'रुद्र' कहा गया है। यद्यपि इन वाक्यों में सामान्यरूप से अग्नि को 'रुद्र' कहा गया है, तथापि देवताओं की स्वरूप विवेचना के लिए इस सम्बन्ध में कुछ विशेष समझने की आवश्यकता है। अक्षर की पांच कलाएं और क्षर पुरुष से पांच प्रकृतियों का प्रादुर्भाव होकर उनसे उत्पन्न होने वाले स्वयम्भू आदि पांच मण्डल हैं, ये मण्डल क्षर पुरुष की आधिदैविक पांच कलाएं हैं। इनमें यद्यपि सब अक्षर-प्राण सर्वत्र व्यापक हैं, तथापि एक-एक मण्डल में क्रम से एक-एक अक्षर-प्राण की प्रधानता रहने से वह मण्डल उसी का होता हैं। स्वयम्भूमण्डल में ब्राह्मा, परमेष्ठी में विष्णु, सूर्य में इन्द्र, पृथिवी में अग्नि और चन्द्रमा में सोम की प्रधानता है—

यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।

—इत्यादि श्रुतियों में पृथिवी में अग्नि की प्रधानता सर्वत्र घोषित है। पृथिवी में अग्नि दो प्रकार से रहता है–'चित्य' और 'चिते निधेय,

पृथिवी-पिण्ड की सृष्टि के अनन्तर जो अग्नि-प्राण इस पिण्ड में प्रविष्ट हुआ है, वह 'अमृताग्नि' नाम से ब्राह्मण में व्यवहृत है। वह अमृताग्नि पृथिवी के गोले से प्रतिक्षण निकलता हुआ सूर्यमण्डल तक जाता है, इसकी व्याप्ति को कई भागों में बाँटकर उसके नाम श्रुति में 'स्तोम' या 'अहर्गण' रक्खे गये हैं और उन भागों के आधार पर ही त्रिलोकी की कल्पना है। अमृताग्नि की स्थिति पृथिवी-गोल के हृदय वा केन्द्र में है। यहाँ से पृथिवी-गोल की परिधि तक तीन 'अहर्गण' मान लिये जाते हैं। इन तीन से आगे क्रम से छः-छः का एक-एक विभाग है, जिसे पृथक्-पृथक् स्तोम के नाम से पुकारा जाता है। पहला स्तोम ३ + ६ = ९ अहर्गणपर पूरा होता है, जिसे 'त्रिवृत्स्तोम' कहते हैं, (त्रिवृत् अर्थात् ९), दूसरा ९ + ६ = १५ पर पूर्ण होने वाला पञ्चदशस्तोम है और तीसरा १५ + ६ = २१ एकविंश-स्तोम है। नौतक पृथिवीलोक, पन्द्रह तक अन्तरिक्ष और इक्कीस तक द्युलोक माना गया है, इक्कीसवें भाग का सूर्यमण्डल से सम्बन्ध है—

'असौ वा आदित्यो एकविंशः' (श्रुति)

इस त्रिलोकी में त्रिवृत् (९) स्तोमतक इस अग्नि का नाम 'अग्नि' ही रहता है, अन्तरिक्षलोक में अर्थात् ९ से १५ तक इसे 'वायु' कहते हैं और १५ से २१ तक द्युलोक में 'आदित्य' नाम से इस का निर्देश होता है। यह सब विषय निरुक्त दैवतकाण्ड के प्रथमाध्याय में वर्णित है। तात्पर्य यह कि एक ही अग्नि की तीन अवस्थाएं होती हैं— अग्नि, वायु, आदित्य। अग्नि के सहचर 'आठ वसु', वायु के सहचर 'एकादश रुद्र' और आदित्य के सहचर 'द्वादश आदित्य' हैं। अर्थात् अग्नि आठ रूपों में, वायु ग्यारह रूपों में और आदित्य बारह रूपों में प्राप्त होता है। इससे आगे (सूर्यमण्डल से परे) यह अमृताग्नि सोम-रूप में परिणत होकर बारह अहर्गण तक जाता है, जिसमें २१ + ६ = २७ का त्रिणवस्तोम और २७ + ६ = ३३ तक त्रयस्त्रिंशस्तोम कहा जाता है। ये दोनों स्तोम त्रिलोकी से बाहर हैं, इन में 'दिक्सोम' और 'भास्वरसोम'—दो प्रकार के सोम की स्थिति है। यह स्तोम फिर ऊपर से नीचे को आकर अग्नि का अन्न (खाद्य) बनता रहता है, इसी अन्न से अन्नाद अग्नि का जीवन है।

जिस प्रकार अग्नि की तीन अवस्थाएं बतायी गयी हैं, वैसे ही सोम की भी तीन अवस्थाएं हैं, सूक्ष्म दशा में 'सोम', किञ्चित् घन होने पर 'वायु' और अधिक घन होने पर उसे ही 'अप्' कहते हैं। इसलिये सूर्य से ऊपर का परमेष्ठिमण्डल (महः और जन लोक) 'अप्लोक', 'वायुलोक' या 'सोमलोक' कहलाता है। अग्नि की अवस्थाओं में भी एक वायु का उल्लेख आया है, वह 'आग्नेय वायु' है और सोम की अवस्थाओं का यह 'सौम्य वायु' है। ये दोनों प्राणरूप हैं अर्थात् शक्तिविशेष है, 'मैटर' या भूत नहीं। विना अग्नि के सोम वा विना सोम के अग्नि कहीं रह नहीं सकता, इसलिए सौम्य वायु में भी अग्नि का सम्बन्ध है, किन्तु सोम की प्रधानता के कारण उसे 'सौम्य वायु' कहते हैं और आग्नेय वायु में भी सोम है, किन्तु अग्नि की प्रधानता है। पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो अन्तरिक्ष है, उसमें आग्नेय वायु रहता है और सूर्य और परमेष्ठी के मध्य में जो अन्तरिक्ष है, उसमें सौम्य वायु रहता है। यही आग्नेय वायु भौतिक वायु और भौतिक अग्नि का उत्पादक है, अतएव श्रुति में कहा गया है कि 'मरुतो रुद्रपुत्रासः'—मरुत् रुद्र के पुत्र हैं। 'मरुत्' भौतिक वायु है और इस अग्नि को भी रुद्र का वीर्य कहा जाता है, जिससे कि रुद्र का नाम 'कृशानुरेताः' है। सूर्य के ताप (धूप) में भी रुद्र प्राण की ही प्रखरता रहती है, अतः धूप को 'रौद्र' वा 'रौद' कहते हैं। रुद्र-प्राण से ही भूमि के स्तर में पारद बनता है, अतः उसे 'रुद्रवीर्य' कहा गया है। सौम्य वायु 'साम्बसदाशिव' और आग्नेय वायु 'रुद्र' कहा जाता है। आग्नेय वायु उपद्रावक है। वह रूक्षता पैदा करता है, रोग उत्पन्न करता है; हर एक पदार्थ का भेदक है, अतः वह 'रुद्र' (रुलानेवाला, भयङ्कर) कहा गया है और सौम्य वायु सबका प्राणप्रद, सब उपद्रवों को शान्त करनेवाला, संयोजक है। अतः वह 'शिव' है। जैसा कि आगे कहते हैं—रुद्र भी किसी अवस्था में 'शिव' होता है, किन्तु सौम्य वायु सदा ही शिव है, अतः उसे 'सदाशिव' कहते हैं। अम्बा वैदिक परिभाषा- में 'जल' का नाम है। सौम्य वायु जल से मिश्रित रहता है, अतः वह 'साम्बसदाशिव' कहलाता है।

रुद्र के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—

अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वौ, घोरान्या च शिवान्या च।

अर्थात् अग्नि रुद्र है। उसके दो रूप हैं—एक घोर, दूसरा शिव। जो अग्नि का रूप उपद्रावक, रोगप्रद, नाशक है, उसे 'घोररुद्र' कहते हैं और जो लाभप्रद, रोगनाशक, रक्षक है, उसे 'शिव' कहते हैं। इस प्रकार रुद्र भी 'शिव' माने गये हैं। घोर रुद्रों से—

'मा नो वधीः पितरं मोत मातरम्',

'मा नः स्तोके तनये मा न आयुषि'

'नमस्ते अस्त्वायुधायानातताय धृष्णवे'

इत्यादि रक्षा की प्रार्थना वा

'परो मूजवतोऽतीहि'

इत्यादि दूर रहने की प्रार्थना की जाती है, उनसे बचना आवश्यक है, और शिव-रुद्र की पूजा-उपासना होती है, उनकी रक्षा में हम सब रहना चाहते हैं। अग्नि में जितना सोम-सम्बन्ध है, वह उतना ही 'शिव' (कल्याण कर) हो जाता है, यह शतपथ—नवमकाण्ड में आरम्भ में ही स्पष्ट किया गया है।

रुद्र ग्यारह प्रसिद्ध हैं। आध्यात्मिक, अधिभौतिक, आधिदैविक वा अधियज्ञ-भेद से इन ग्यारह के पृथक्-पृथक् नाम श्रुति, पुराण आदि में प्राप्त होते हैं। शतपथ-चतुर्दश-काण्ड (बृहदारण्यक) उपनिषद् ५ अध्याय, ९ ब्राह्मण में शाकल्य और याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर में देवता निरूपण में 'दशेमे पुरुषे प्राणाः, आत्मैकादशः' पुरुष के दस प्राण और ग्यारहवां आत्मा आध्यात्मिक रुद्र बताये गये हैं। दस प्राणों की व्याख्या अन्यत्र श्रुति में इस प्रकार है—

'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः, द्वाववाञ्चौ, नाभिर्दशमी'

मस्तक में रहने वाले सात प्राण, दो आंख, दो नाक, दो कान और एक मुख नीचे के दो प्राण, मलमूत्र त्यागने के द्वार और दशवीं नाभि। अन्तरिक्षस्थ वायुप्राण ही हमारे शरीरों में प्राणरूप होकर प्रविष्ट है और वही इन दसों स्थानों में कार्य करता है, इसलिए इन्हें रुद्र प्राण के सम्बन्ध से 'रुद्र' कहा गया है। ग्यारहवां आत्मा भी यहां 'प्राणात्मा' ही विवक्षित है, जो कि इन दसों का अधिनायक 'मुख्य प्राण' कहाता

है। अधिभौतिक रुद्र पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, यजमान (विद्युत्), पवमान, पावक और शुचि नाम से कहे गये हैं। इनमें आदि के आठ शिव की अष्टमूर्ति हैं—और आगे के तीन (पवमान, पावक और शुचि) घोर रूप हैं। ये उपद्रावक रुद्र (वायुविशेष) हैं। इनमें शुचि सूर्य में, पवमान अन्तरिक्ष में और पावक पृथिवी में कार्य करता है, किन्तु हैं तीनों अन्तरिक्ष के वायु। अष्टमूर्ति की उपासना है और तीनों से पृथक् रहने की प्रार्थना है। आधिदैविक एकादश रुद्र तारामण्डलों में रहते हैं, इनके कई नाम भिन्न-भिन्न रूप से मिलते हैं– (१) अज एकपात् (२) अहिर्बुध्न्य (३) विरूपाक्ष (४) त्वष्टा, आयोजित या गर्भ (५) रैवत, भैरव, कपर्दी या वीरभद्र (६) हर, नकुलीश, पिङ्गल या स्थाणु (७) बहुरूप, सेनानी या गिरीश (८) त्र्यम्बक, भुवनेश्वर विश्वेश्वर या सुरेश्वर (९) सावित्र, भूतेश या कपाली (१०) जयन्त, वृषाकपि, शम्भु या सन्ध्य (११) पिनाकी, मृगव्याध, लुब्धक या शर्व इनका पुराणों में स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णन है।

ये सब तारामण्डल में तारारूप से दिखाई देते हैं। रुद्र-प्राण इन में अधिकता से रहता है और इनकी रश्मियों से भूमण्डल में आया करता है, इसी से इन्हें 'रुद्र' कहा गया है। इनमें भी 'घोर' और 'शिव' दोनों प्रकार की रुद्राग्नि हैं। इनके आधार पर फलाफल शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं—जैसे कि श्लेषा-नक्षत्रपर सूर्य के रहने पर जो वर्षा होती है, उसे रोगोत्पादक और मघा की वर्षा को रोगनाशक माना जाता है। रोम-देश के पुराने तारामण्डल के चित्रों में सर्पधारी, कपालधारी, शूलधारी आदि भिन्न-भिन्न आकारों के इन तारों के चित्र दिखायी देते हैं, उन तारों का आकार ध्यानपूर्वक देखने पर उसी सन्निवेश का प्रतीत होता है, इसीलिये उनके वैसे आकार बनाये गये हैं। ऐसे ही शिव के भी भिन्न-भिन्न रूप उपासना में प्रसिद्ध हैं। पुराणों में कई एक शिव के आख्यान इन तारों के ही सम्बन्ध के हैं, जैसा कि शिव ने ब्रह्मा का एक मस्तक काट दिया। इस कथा का 'लुब्धकबन्धु' तारे से सम्बन्ध है। यह कथा ब्राह्मणों में भी प्राप्त होती है और वहाँ इसका तारापरक ही विवरण मिलता है। दक्षयज्ञ की कथा भी आधिदैविक और आधिभौतिक—दोनों भावों से पूर्ण है। वह मनुष्याकारधारी शिव का चरित्र भी है और 'दक्ष ही सिर काट कर उसको

बकरे का सिर लगाया गया'। इसका यह आशय भी है कि प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका को आरम्भ में रखकर होती थी, किन्तु उसे अश्विनी (मेष) से आरम्भ किया गया। इसी प्रकार की अनेक कथाएँ आधिदैविक भाव से हैं।

यज्ञ में ग्यारह अग्नि होते हैं। पहले तीन अग्नि हैं—गार्हपत्य, आहवनीय और धिष्ण्य। इन में गार्हपत्य के दो भेद हो जाते हैं। इष्टि में जो गार्हपत्य है, वह सोमयाग में 'पुराणगार्हपत्य' कहाता है और इष्टि के आहवनीय को सोमयाग में गार्हपत्य बना लेते हैं। वह 'नूतनगार्हपत्य' कहाता है। धिष्ण्याग्नि के आठ भेद हैं, जिनके नाम श्रुति में आग्नीध्रीय, अच्छावाकीय, नेष्ट्रीय, पोत्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय और मार्जालीय हैं। आहवनीय एक ही प्रकारका है, यों ग्यारह होते हैं। ये सब अन्तरिक्षस्थ अग्नियों की अनुकृति हैं, इसलिये ये भी एकादश रुद्र कहे जाते हैं। ये शिवरूप ही यज्ञ में ग्राह्य हैं, घोर रूपों का यज्ञ में प्रयोजन नहीं है।

एक रुद्र और अनन्त रुद्र

'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' और **'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्'**, इस प्रकार तन्त्रों में एक रुद्र और असंख्यात रुद्र—दोनों प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं। इसकी व्यवस्था शतपथब्राह्मण नवमकाण्ड के आरम्भ में (प्रथमाध्याय, प्रथम ब्राह्मण) ही इसप्रकार की गयी है कि 'क्षत्र रुद्र' एक है और असंख्यात रुद्र 'विट्' (वैश्य) रुद्र हैं, विट् को ही 'प्रजा' कहते हैं। इसका अभिप्राय यही होता है कि एक रुद्र राजा, अधिनायक मुख्य है और अनन्त रुद्र उसकी प्रजा—अनुगामी है। मुख्य रुद्र को 'शतशीर्षा', 'सहस्राक्ष', 'शतेषुधि' कहा गया है। उसकी उत्पत्ति प्रजापति के मन्यु (क्रोध) और अश्रु के सम्बन्ध से वहां बतायी गयी है । **'नमस्ते रुद्र मन्यवे'** इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या भी वही है। अस्तु, इसका तात्पर्य पूर्वोक्त ही है कि अग्नि (प्रजापति का मन्यु वा क्रोध) और सोम (अश्रुजल) के सम्बन्ध से 'रुद्र' प्राण होता है। जिसमें 'विप्रुट्'—बिन्दुमात्र का सम्बन्ध है, वे वायु के भिन्न-भिन्न अंश जो पृथिवी, अन्तरिक्ष या सूर्यलोक में व्याप्त हैं, उनका ही विस्तृत वर्णन रुद्राध्याय के मन्त्रों में आया है।

उन रुद्रों के अस्त्र आदि भी बताये हैं, 'येषां वात इषवः' इत्यादि। और किस तरह इनका प्रभाव प्राणियों पर पड़ता है, इसका भी जिक्र है—'ये आमे पात्रे विध्यन्ति' इत्यादि। स्थानविशेष भी इनके आये हैं—'परो मूजवतोऽतीहि' (आप मूजवान् पर्वत से परे चले जाइये)। मूजवान् पर्वत हेमकूट (हिन्दूकुश) का प्रत्यन्त पर्वत है—जो कि पश्चिम के सुलेमान पर्वत से बहुत उत्तर, श्वेतगिरि (सफेद कोह) से भी उत्तर है। इसी से पूर्व की ओर क्रौञ्चगिरि (काराकुरम्) है, जिसका विदारण स्वामिकार्तिकेय के द्वारा पुराणों में वर्णित है। 'उमावन', 'शरवण' अदि स्थान इसी के आसपास हैं। वहाँ से आगे का वायु बहुत ही विकृत माना जाता है, इसीलिये विकृत वायु से वहाँ से चले जाने की प्रार्थना की गयी है। अस्तु, रुद्र का विज्ञान न समझ-कर आजकल के कई विद्वान् रुद्रपाठवर्णित रुद्रों को 'जर्म्स' कहने लगे हैं, किन्तु हैं वे विकृतवायुप्रविष्ट 'रुद्रप्राण'। यह सब 'घोर रुद्र' का विस्तार है। रुद्र का वर्णन श्रुति मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में ओतप्रोत है। घोर रुद्र दूर से नमस्कार्य हैं और शिवरुद्र उपास्य।

अष्टमूर्ति

अक्षर पुरुष की 'इन्द्र', 'अग्नि', 'सोम'—इन तीनों कलाओं के एक अधिष्ठाता 'महेश्वर' वा 'शिव' कहलाते हैं। जितने पिण्ड बने हैं, वे सब अग्नि और सोम से बने हैं, किन्तु किसी पिण्ड में अग्नि की और किसी में सोम की प्रधानता है। स्वयम्भू-मण्डल आग्नेय, परमेष्ठि मण्डल सौम्य, फिर सूर्यमण्डल आग्नेय, चन्द्रमा सौम्य और फिर पृथिवी आग्नेय है। जो-जो आग्नेय, हैं, उन्हें 'महेश्वर', 'रुद्र' वा 'शिव' कहकर पूजते हैं। सोमसम्पृक्त अग्नि को ही पूर्व प्रकरण में 'रुद्र' कहा जा चुका है।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशः॥

(रुद्राध्याय)

'जो यह लाल (बैंगनी), गुलाबी, खाखी वा मिश्रित रूप का दिखायी देता है और इसके चारों ओर जो हजारों रुद्र हैं' इत्यादि

वर्णन सूर्यमण्डल का ही रुद्ररूप से है, वही सर्ववर्ण है और उसके चारों ओर सब देवता रहते हैं—'चित्रं देवानामुदगादनीकम्।' सूर्यमण्डल से जो मण्डलाकार आग्नेय प्राण निकलता रहता है, उसे 'संवत्सराग्नि' कहते हैं। इसकी पूर्ति एक वर्ष में होती है, इसलिए वर्ष को भी 'संवत्सर' कहा करते हैं। यह सौर अग्नि ही पृथिवी में 'वैश्वानर' अग्निरूप से परिणत होता है, यह निरुक्तकारने सिद्ध किया है। भूमण्डल के चारों ओर बारह योजन ऊपर तक एक 'भूवायु' है, जिसमें भूमि का सा आकर्षण है। पक्षी उसी के आधार पर रहते हैं, इसे ज्योतिष में 'आवह वायु' और वैदिक परिभाषा में 'एमूष वराह' वा 'उषा' कहते हैं। इस उषारूप पत्नी में संवत्सराग्नि रूप पुरुष जब गर्भाधान करता है (प्रविष्ट होता है) तब दोनों के योग से 'कुमार' नामक अग्नि की उत्पत्ति होती है, यह सब विषय शतपथ-ब्राह्मण-(काण्ड ६, अध्याय १, ब्राह्मण ३) में स्पष्ट है। यही कुमाराग्नि 'कुमारो नीललोहितः' कहकर रुद्ररूप से उपास्य माना गया है। इस कुमाराग्नि के आठ रूप हैं. जो कि 'चित्राग्नि' नाम से कहे जाते हैं। इन आठों रूपों का विवरण उनके आठ नाम—रुद्र, सर्व (शर्व), पशुपति, उग्र, अग्नि (भीम), भव, महादेव और ईशान और उनके आठ स्थान—अग्नि (भौतिक तेज), अप् (जल), ओषधि (पृथिवी), वायु, विद्युत् (वैश्वानराग्नि, यजमान का आत्मा), पर्जन्य (आकाश), चन्द्रमा और सूर्य शतपथ के उक्त स्थान में स्पष्ट रूप से गिनाये हैं। पौराणिक निरूपण में जो नामभेद हैं—उन्हें ऊपर कोष्ठों में प्रकट कर दिया है। इसी श्रुति का इशारा करते हुए महिम्नस्तोत्र में कहा गया है—

> भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां—
>
> स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
>
> अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देवः श्रुतिरपि
>
> प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते॥

उक्त आठों स्थानों में जो आग्नेय प्राण हैं, वे 'रुद्र' वा 'शिव' रूप से उपास्य हैं, यही शिव को आठ मूर्तियाँ कही जाती हैं। इसके आगे ही शतपथ (काण्ड ६ अ० २ ब्रा० १) में इस कुमाराग्नि से पांच

पशुओं– पुरुश, अश्व, गो, अज और अवि की उत्पत्ति बतायी है। ये पाँचों भी अग्नि (प्राणविशेष) हैं, जिनकी प्रधानता से आधिभौतिक पशुओं के भी यही नाम पड़ते हैं। इन पशुओं का पति (अधिनायक) होने के कारण भी यह कुमाराग्नि—रुद्र 'पशुपति' कहलाता है।

शिव और शक्ति

पार्थिव अग्नि इक्कीस अहर्गण (एकविंशस्तोम) तक अर्थात् द्यु लोक वा स्वर्लोक तक (सूर्यमण्डल तक) व्याप्त है, उससे आगे सोम-मण्डल है। अग्नि की गति ऊपर को और सोम की गति ऊपर से नीचे की ओर रहती है। विशकलन को सीमा पर पहुंच कर अग्नि ही सोम रूप से परिणत हो जाता है और फिर ऊपर से नीचे की ओर आकर अग्नि में प्रवेश कर सोम अग्नि बन जाता है। इनमें अग्नि को 'शिव' और सोम को 'शक्ति' कहते हैं। 'सोम' शब्द उमा से ही बना है—'उमयासहितः सोमः'। शक्तिरूप की विवक्षाकर उमा भगवती कह लीजिये और शक्तिमान् द्रव्य वा प्राण को शक्ति का आश्रय शक्ति से अतिरिक्त मान कर 'उमया सहितः सोमः' कह लीजिये, बात एक ही है। भेद-अभेद की विवक्षामात्र का भेद है। यह तत्त्व बृहज्जाबालोपनिषद-ब्राह्मण २ में स्पष्ट है—

अग्न षोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते। रौद्री घोरा या तैजसी तनूः। सोमः शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः।

अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजो विद्या कला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसि (सो) ॥१॥
द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चान (ला)त्मिका।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चान (नि) लात्मिका ॥२॥

वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः।
तेजोरसविभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥३॥

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते।
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥४॥

ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधः शक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥५॥
अग्नि रूर्ध्वंभवत्येष यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥६॥
अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥७॥
आधारशक्त्याऽवधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥८॥

शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥९॥

इसका तात्पर्य है कि 'इस सब जगत् के आत्मा अग्नि और सोम हैं या इसे अग्निरूप भी कहते हैं। घोर तेज (अग्नि) रुद्रका शरीर है, अमृतमय, शक्ति देने वाला सोम शक्तिरूप है। अमृतरूप सोम सबकी प्रतिष्ठा है, विद्या और कला आदि में तेज (अग्नि) व्याप्त है। स्थूल या सूक्ष्म सब भूतों में रस (सोम) और तेज (अग्नि) सब जगह व्याप्त हैं। तेज दो प्रकार का है—सूर्य और अग्नि। सोम के भी दो रूप हैं—रस (अप्) और अनिल (वायु)। तेज के विद्युत् आदि अनेक विभाग हैं और रस के मधुर आदि भेद हैं। तेज और रस से ही यह चराचर जगत् बना है। अग्नि से ही अमृत (सोम) उत्पन्न होता है और सोम से अग्नि बढ़ता है, अतएव अग्नि और सोम के परस्पर हविर्यज्ञ से सब जगत् उत्पन्न है। अग्नि ऊर्ध्वशक्तिमय होकर अर्थात् ऊपर को जाकर सोमरूप हो जाता है और सोम अधःशक्तिमय होकर अर्थात् नीचे आकर अग्नि बन जाता है, इन दोनों के सम्पुट में निरन्तर यह विश्व रहता है। जब तक सोम रूप में परिणत न हो, तब तक अग्नि ऊपर ही जाता रहता है और सोम—अमृत जब तक अग्निरूप न बने तब तक नीचे ही गिरता रहता है। इसलिये कालाग्नि रूप रुद्र नीचे हैं और शक्ति इनके ऊपर विराजमान है। दूसरी स्थिति में फिर (सोम की आहुति हो जाने पर) अग्नि ऊपर और सोम नीचे हो जाता है। ऊपर जाता हुआ अग्नि अपनी आधार शक्ति सोम से ही धृत है, बिना सोम के उसका जीवन नहीं और

नीचे आता हुआ सोम शिव की ही शक्ति कहलाता है अर्थात् बिना शिव के आधार के वह भी नहीं रह सकता। दोनों एक दूसरे के आधार पर हैं। शिव शक्तिमय है और शक्ति शिवमय है, शिव और शक्ति जहां व्याप्त न हों—ऐसा कोई स्थान नहीं है।

अब इस पर और व्याख्या लिखने की आवश्यकता नहीं रही। अग्नि से सोम और सोम से अग्नि बनते हैं, वे दोनों एक ही तत्त्व हैं। इसलिये शिव और शक्ति का अभेद (एकरूपता) माना जाता है, एक के बिना दूसरा नहीं रहता। इसलिये शिव और उमा मिलकर एक अङ्ग है, उमा शिव की अर्द्धाङ्गनी है। सोम भोज्य है और अग्नि भोक्ता, इसलिये अग्नि पुरुष और सोम स्त्री माना गया है। लोक क्रम में सोम ऊपर रहता है, इससे शिव के वक्षः स्थल पर खड़ी हुई शक्ति की उपासना होती है। शिव ज्ञानस्वरूप वा रसस्वरूप है और शक्ति क्रिया या बलरूपा। क्रिया या बल, ज्ञान या रस के आधार पर खड़ा रहता है, इसलिए भगवती को शिव के वक्ष स्थल पर खड़ी हुई मानते हैं, यह भी भाव इसमें अन्तर्निहित है। बिना क्रिया के ज्ञान में स्फूर्ति नहीं, वह मुर्दा है, इसलिए वहाँ शिव को 'शव' रूप माना जाता है। दूसरे शब्दों में विश्वरूप (विराट्रूप) शिव है, उस पर चित्कलारूपा (ज्ञान शक्तिरूपा) भगवती खड़ी है। वही इसकी प्रधान शक्ति है, उसके बिना विश्वरूप निश्चेष्ट है। वह 'शव' रूप है। ज्ञान और क्रिया को अर्द्धाङ्ग भी कह सकते हैं। इस प्रकार कोई भी भाव मान लिया जाय, सभो प्रमाणसिद्ध और अनुभवगम्य हैं।

विश्वचर ईश्वर और शिवमूर्ति

विश्व की उत्पत्ति से शिव का सम्बन्ध संक्षेप में दिखाया गया है, यह शिव का 'विश्व' रूप या 'ब्रह्मसत्य' कहलाता है। ईश्वर जगत् को रचकर उसमें प्रविष्ट होता है। वह प्रविष्ट होने वाला रूप ईश्वर का 'विश्वचर' रूप है, इसे वैदिक परिभाषा में 'देवसत्य' कहते हैं। यही सब जगत् का नियन्ता है ओर व्यवहार में, न्याय दर्शन में या उपासना शास्त्रों में यही नियन्ता 'ईश्वर' कहलाता है। ईश्वर के इस रूप की व्याप्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है, समष्टि ब्रह्माण्ड में और प्रत्येक व्यष्टि-पदार्थ

में यह व्यापक रूप से विराजमान है और ब्रह्माण्ड से बाहर भी व्याप्त रहकर ब्रह्माण्ड को अपने उदर में रक्खे हुए है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ।
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥
सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

इत्यादि शतशः मन्त्रों में ईश्वर के विश्वचर रूप का वर्णन मिलता है और इनमें 'शिव', 'ईशान' 'रुद्र' पद भी स्पष्ट हैं।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का शरीर कहलाता है, इस शरीर का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

(मुण्ड० २।१।४)

'अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा सूर्य दोनों नेत्र हैं, दिशाएं श्रोत्र, वेद वाक्य, विश्वव्यापी वायु प्राणरूप से हृदय में है, पृथिवी पाद रूप, वही सब भूतों का अन्तरात्मा है।'

इसी प्रकार का संक्षिप्त और विस्तृत वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। इसी वर्णन के अनुसार उपासना में शिवमूर्ति के ध्यान हैं। अग्नि की व्याप्ति इक्कीस स्तोम तक (सूर्यमण्डल तक) है, इसी अग्नि को यहां मस्तक बताया गया है और उसी मस्तक के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्रमा को नेत्र माना है। इस प्रकार पृथिवी से आरम्भ कर सूर्य मण्डल से पर, स्वम्भू मण्डल तक ईश्वर की व्याप्ति बताई जाती है। हमारी आराध्य शिवमूर्ति में भी तृतीय नेत्र रूप से अग्नि ललाट में विराजमान है, जो कि अन्य दोनों नेत्रों से किञ्चित् ऊंचाई पर है। सूर्य और चन्द्रमा दोनों नेत्र हैं ही—

'वन्दे सूर्यशशाङ्कवन्हिनयनम्'

यहां तक अग्नि की व्याप्ति हुई, इससे आगे सोममण्डल है और सोम की तीन अवस्थाएं हैं—अप्, वायु और सोम। इनमें से सोम चन्द्रमा रूप से, अप् गङ्गा रूप से और वायु जटा रूप से शङ्कर के मस्तक में (अग्नि आदि से ऊपर) विराजमान है। सूर्यमण्डल से ऊपर परमेष्ठि-मण्डल का सोम मण्डल रूप में नहीं है, इसलिए शिव के मस्तक पर भी चन्द्रमा का मण्डल नहीं, किन्तु कलामात्र है। सोम के ही तीन भाग हैं, जो कि तीन कला (अंश, अवयव) कही जा सकती हैं। केवल सोम पूर्ण रूप में नहीं रहता, किन्तु भागों में विभक्त होकर रहता है, इसलिए भी चन्द्रमा की कला का मस्तक पर विराजित होना युक्तियुक्त है। मण्डलरूप पृथिवी का चन्द्रमा पहले नेत्रों में आ चुका है, परमेष्ठि मण्डल का 'अप्' ही गङ्गा के रूप में परिणत होता है। वह गङ्गा जटा में है अर्थात् वायुमण्डल में व्याप्त है। शिव का नाम 'व्योमकेश' है, अर्थात् आकाश को उनकी जटा माना गया है और आकाश वायु से व्याप्त ही मिलता है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।

इससे भी जटाओं का वायुरूप होना सिद्ध है। एक-एक केश के समूह को 'जटा' कहते हैं और वायु का भी एक-एक डोरा पृथक्-पृथक् है, जिनकी समष्टि 'वायु' कहलाता है—यह जटा और वायु का सादृश्य है। पृथिवी का अधिकतर सम्बन्ध सूर्य से ही है, आगे के सोममण्डल

का पृथिवी से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। सूर्य, चन्द्र द्वारा होता है; इससे हमारा असली ब्रह्माण्ड सूर्य तक ही है। यही यहां भी (शिव-मूर्ति में भी) सूचित किया है, क्योंकि मस्तक तक ही शरीर की व्याप्ति है, केश मुख्यतः शरीर के अंश नहीं कहे जाते। शरीर का भाग ही अवस्थान्तरित होकर केश रूप में परिणत होता है, इसी प्रकार अग्नि ही अवस्थान्तरित होकर सोमरूप में परिणत होता है यह परमेष्ठि मण्डल का वायु जटा रूप से है और जिसे श्रुति में प्राणरूप से हृदय में विराजमान कहा है, वह इस हमारे अन्तरिक्ष का वायु है। पद्म-पुराण में पृथिवी का पद्म रूप से निरूपण किया है, और शङ्कर का ध्यान पद्मासन स्थित रूप में है—'पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैः', इससे पृथिवी की पादरूपता भी ध्यान में आती है।

ईश्वर के शरीर इस ब्रह्माण्ड में विष और अमृत—दोनों हैं। विष भी कहीं बाहर नहीं, ईश्वर शरीर में ही है। किन्तु ईश्वर विष को गुप्त, अन्तर्लीन रखता है और अमृत को प्रकट। जो ईश्वर के उपासक ईश्वर के शरीर रूप से जगत् को देखते हैं, उनकी दृष्टि में अमृत ही आता है, विष विलीन ही रहता है। अतएव शङ्कर की मूर्ति में विष गले के भीतर है, वह भी कालिमा रूप से मूर्ति की शोभा ही बढ़ा रहा है और अमृतमय चन्द्रमा स्पष्ट रूप से सिर पर विराजमान है। वैज्ञानिक समुद्र मन्थन के द्वारा जो विष प्रकट होता है, उसे रुद्र ही धारण करते हैं।

ईश्वर को शास्त्रकारों ने 'विरुद्धधर्माश्रय' माना है; जो धर्म हमें परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, वे सब ईश्वर में अविरुद्ध होकर रहते हैं। सभी विरुद्ध धर्मों को ब्रह्माण्ड में ही तो रहना है, बार जांय कहां? और ब्रह्माण्ड ठहरा ईश्वर का शरीर, फिर वहां विरोध किस का? यह भाव भी शिवमूर्ति में स्पष्ट है कि वहां अमृत भी है, विष भी, अग्नि भी है, जल भी, किसी का परस्पर विरोध है ही नहीं। इस भाव को पार्वती की उक्ति में कविकुल गुरु कालिदास ने बड़े सुन्दर शब्दों में चित्रित किया है। इस प्रकरण का एक पद्य हम लेख के आरम्भ में दे चुके हैं, दूसरा भी बड़ा मार्मिक है—

विभूषणोद्भासि भुजङ्गभोगि वा
गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरो
न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः॥

(कुमारसंभव ५)

वह शरीर भूषणों से भूषित भी है और सर्प-शरीरों से वेष्टित भी। गज चर्म भी ओढ़े हुए है और सुन्दर-सुन्दर बहूमूल्य वस्त्रधारी भी हो सकता है। वह शरीर कपालपाणि भी है और चन्द्रमुकुट भी। जो विश्वमूर्ति ठहरा, उस शरीर का एक रूप से निश्चय कौन कर सकता है?

भगवान् शङ्कर के हाथ में परशु, मृग, वर और अभय बताये गये हैं—

परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।

ध्यान में हाथों के द्वारा देवमूर्ति के कार्य प्रकट किये जाते हैं—यह 'निदान' की परिभाषा है। यहां भी शङ्कर के (ईश्वर के) चार कर्म इन चिह्नों द्वारा बताये गये हैं। परशु (या त्रिशूल) रूप आयुध से दुष्टों का, आत्मविघातक दोषों और उपद्रवों का और पवमान, पावक, शुचि आदि घोर रुद्रों का हनन सूचित किया जाता है। काल आने पर सबका हनन भी इसी से सूचित हो जाता है। दूसरे हाथ में मृग है। शतपथ ब्राह्मण (काण्ड १, अध्याय १, ब्राह्मण ४) में कृष्ण मृग को यज्ञ का स्वरूप बताया गया है। अन्यत्र शतपथ और तैत्तिरीय में यह भी आख्यान है कि अग्नि वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गया, 'वनस्पतीनाविवेश'—इस ऋचा को भी वहां प्रमाण रूप में उपस्थित किया गया है। उस अग्नि को देवताओं ने ढूंढ़ा इससे—'मृग्यत्वान्मृगः'—ढूंढ़ने योग्य होने से वह अग्नि 'मृग' कहलाया। यह अग्नि वेद का रक्षक है। अस्तु, दोनों ही प्रकार से मृग के धारण द्वारा यज्ञ की रक्षा या वेद की रक्षा—यह ईश्वर का कर्म सूचित किया गया है। वरमुद्रा के द्वारा सब को सब कुछ देने वाला ईश्वर (शङ्कर) ही है, अग्नि, वायु और इन्द्ररूप से वही सब जगत् का पालक है, यह भाव व्यक्त किया है और अभय के द्वारा अनिष्ट से

जगत् का त्राण विवक्षित है। यम, निर्ऋति, वरुण और रुद्र—ये चार जगत् के अनिष्टकारक माने गये हैं, इनमें रुद्र समय पर हनन करता है और अन्य अनिष्टों का उपमर्दन कर रक्षा भी करता है। इसी से रुद्र मूर्ति में अभय मुद्रा आवश्यक है। शङ्कर व्याघ्र चर्म को नीचे के अङ्ग में पहिनते हैं या आसन बनाकर बिछाते भी हैं और गजचर्म को ऊपर ओढ़ते हैं, इससे भी उपद्रवी दुष्टों का दबना और सम्पत्ति देना लक्षित होता है। उनके गले में जो मुण्डमाला है, उससे यही सूचित होता है कि सब जगत् के पदार्थ ईश्वर के रूप में अन्तर्गत हैं, उनके रूप में सब पिरोये हुए हैं—

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

ईश्वर सत्ता से पृथक् किये जाने पर सब पदार्थ अचेतन—मृत हैं, यही भाव 'मुण्ड' रूप से सूचित किया है। प्रलय काल में शिव ही शेष रहते हैं, शेष सब पदार्थ चेतनाशून्य होकर मृत-मुण्ड रूप से उनमें प्रोत रहते हैं—यह भी मुण्डमाला का भाव है।

सर्प

शिव को 'सर्पभूषण' कहा जाता है। उनकी मूर्ति में जगह-जगह साँप लिपटे हुए हैं। इसका स्थूल अभिप्राय है कि मङ्गल और अमङ्गल सब कुछ ईश्वर शरीर है। दूसरा अभिप्राय यह भी है कि संहार कारक शिव के पास संहार सामग्री भो रहनी ही चाहिए। समय पर उत्पादन और समय पर संहार, दोनों ईश्वर के ही कार्य हैं। सर्प से बढ़कर संहारक तमोगुणी कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि अपने बालकों को भी खा जाना, यह व्यापार सर्प जाति में ही देखा जाता है, अन्यत्र नहीं। तोसरा अभिप्राय किञ्चित् निगूढ़ है। चन्द्रमा, मङ्गल, बृहस्पति आदि ग्रह जो सूर्य के चारों ओर घूमते हैं, वे अपने एक परिभ्रमण में जिस मार्ग पर गये थे, ठीक उन्हीं विन्दुओं पर दूसरी बार नहीं जाते। किञ्चित् हटकर उसी मार्ग पर चलते हैं, इस प्रकार एक एक बार का भ्रमण का एक एक कुण्डलाकार वृत्त बनता जाता है। कुछ नियत परिभ्रमणों के बाद वे फिर अपने उस पूर्व वृत्त पर आ जाते हैं, यह नियम भिन्न-भिन्न ग्रहों का भिन्न रूप से है। मङ्गल ७९वें

पर्व में फिर अपने पूर्व वृत्त पर आता है, और-और ग्रहों का भी समय नियत है। यह भिन्न-भिन्न मण्डलों का समुदाय रस्सी की तरह लपेटा हुआ खयाल में लाया जाय तो वह सर्प कुण्डली के आकार का ही होता है। अतः वेदों में इनका व्यवहार नाग या सर्प कहकर ही किया गया है। आधुनिक ज्योतिष-शास्त्र में इन्हें 'कक्षावृत्त' कहते हैं। सूर्य को मध्य में रखकर घूमने वालों में आठ ग्रह मुख्य हैं, अतः आठ ही सर्प प्रधान माने गये हैं। और भी बहुत से तारे घूमने वाले हैं, उनके लघु सर्प बनते हैं। ये सब ग्रह और उनके कक्षावृत्त (सप) ईश्वर के शरीर ब्रह्माण्ड में अन्तर्भूत हैं—इसलिए शिव के शरीर में भूषण रूप से सर्पों की स्थिति बतायी गयी है। तारामण्डल में भी अनेक रुद्र हैं, और उनके आकार सर्प जैसे दिखायी देते हैं। उन सबके धारक मुख्य रुद्र भगवान् शङ्कर हैं, यह चौथा अभिप्राय भी है।

श्वेत मूर्ति

भगवान् शङ्कर की मूर्ति उज्ज्वल—श्वेत है—

रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्

इसके अभिप्राय निम्नलिखित हैं—

(१) व्यापक ईश्वर चेतन अर्थात् ज्ञानरूप है। ज्ञान को 'प्रकाश' कहते हैं, अतः उसका वर्ण श्वेत ही होना चाहिए।

(२) श्वेत वर्ण कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। वस्त्र आदि पर दूसरे रंगे चढ़ाने के लिये यत्न करना पड़ता है, किन्तु श्वेत रंग के लिये कोई रँगरेज नहीं होता। श्वेत पर और-और रूप चढ़ते हैं और धोकर उतार दिये जाते हैं, श्वेत पहले भी रहता है और पीछे भी। धोबी द्वारा दूसरे रंग के उतार दिये जाने पर श्वेत प्रकट हो जाता है। इससे श्वेत नैसर्गिक ठहरा। बस, यही बताना है कि ईश्वर का कृत्रिम रूप नहीं है, सब रूप उसमें उत्पन्न होते हैं और लीन होते हैं, वह स्वभावतः एकरूप है, या वह कृत्रिम रूपों से वर्जित है, नीरूप है।

(३) वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि श्वेत कोई भिन्न रूप नहीं। सब रूपों के समुदाय को ही श्वेत कहते हैं। सब रूपों को जब मिलाया

जाय तब वे यदि सब-के-सब मूर्च्छित हो जांय तो काला रूप बनता है और सब जाग्रत् रहें तो श्वेत प्रतीत होता है। सूर्य की किरणों में सब रूप हैं—यह वैज्ञानिक लोग जानते हैं। तिकोने कांच की सहायता से सर्व-साधारण भी देख सकते हैं। किन्तु सबके मिलने के कारण प्रतीत श्वेत रूप ही होता है। भिन्न-भिन्न सब वर्णों के पत्ते एक यन्त्र में रख कर उसे जोर से घुमाया जाय तो श्वेत ही दिखाई देगा। इससे सिद्ध है कि सब रूप हों, किन्तु उनमें भेद-भाव न हो तो, वह शुक्ल होता है। यही स्थिति ईश्वर की है। जगत् के सब रूप उसी में ओत-प्रोत हैं किन्तु भेद छोड़ कर, भेद अविद्याकृत है। ईश्वर में अभिन्न रूप से सबकी स्थिति है। तब उस ईश्वर को श्वेत ही कहना और देखना चाहिये।

(४) सात लोकों में जो स्वयम्भू से पृथिवी तक पांच मण्डल बताये गये हैं, उनमें से सूर्य मण्डल में सब वर्ण हैं। आगे परमेष्ठिमण्डल कृष्ण है। उससे आगे स्वयम्भूमण्डल प्रकाशमय श्वेत वर्ण है और आग्नेय-मण्डल होने के कारण वह 'शिवमण्डल' वा 'रुद्रमण्डल' भी कहलाता है। वही मण्डल सर्वव्यापक होने के कारण ईश्वर का रूप कहा जा सकता है। उसके प्रकाशमय श्वेतवर्ण होने के कारण शिवमूर्ति का श्वेत वर्ण युक्ति-युक्त है।

विभूति

शङ्कर भगवान् सर्वाङ्ग में विभूति से अनुलिप्त रहते हैं। इसका भी यही कारण है। उक्त पांचों मण्डल के प्राण सारे पार्थिव पदार्थों में व्याप्त हैं। उनमें से सौर-जगत् में सूर्यप्राण उद्‌भूत (सबसे ऊपर, प्रकाशित) रहते हैं और आगे के अमृतमण्डलों (परमेष्ठि और स्वयम्भू) के प्राण आच्छन्न (ढके हुए, गुप्त) रहते हैं। सूर्य किरणों के कारण ही भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं, यह वैज्ञानिकों का सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है। सूर्य की किरणों में सब रूप हैं, हर एक पदार्थ अपनी विशेष शक्ति से अन्य रूपों को निगल जाता है और एक रूप को उगल देता है। जिसे उगलता है वही हमें उस पदार्थ का रूप प्रतीत होता है, यह आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है। जब इन

पदार्थों में अग्नि लगायी जाती है तो अग्नि का स्वभाव है कि घनीभूत पदार्थों का विश्कलन करे—उन्हें तोड़े। यों अग्नि द्वारा पृथक् किया जाकर सौर-प्राणों का ऊपरी स्तर जब निकल जाता है, तो भीतर का छिपा हुआ परमेष्ठि मण्डल के प्राण का समनुगत कृष्ण रूप काले-कोयले के रूप में निकल आता है, किसी भी पदार्थ को जलाने पर वह काला ही होगा, यह प्रत्यक्ष है। यह पदार्थों में दूसरा स्तर है। जब इस पर भी फिर अग्नि का प्रयोग किया जाय और अग्नि द्वारा विश-कलित होकर दूसरा स्तर भी निकल जाय, उड़ जाय, तब तीसरा अन्तर्निगूढ़ स्वयम्भू प्राणों-का स्तर प्रकट होता है और वह स्वयम्भू प्राण के समनुगत श्वेत रूप का देखा जाता है। किसी भी रंग के पदार्थ को जलाइये, अन्त में प्रकाशमान श्वेत भस्म ही शेष रहता है। यह मौलिक तत्त्व है, इसे अग्नि नहीं उड़ा सकता। भगवान् शङ्कर इसी मौलिक तत्त्व–भस्म से सदा उद्‌धूलित रहते हैं। इसी मौलिक तत्त्व से वे सृष्टि की रचना करते हैं, यह शिव पुराण की सृष्टि-प्रक्रिया में स्पष्ट है। स्वयम्भूमण्डल के अधिष्ठाता श्वेत मूर्ति शिव का जगद्व्याप्त स्वयम्भू-प्राण रूप भस्म से उद्‌धूलित रहना सर्वथा स्वारसिक है, इसमें सन्देह नहीं। शिव के अन्य प्रकार के भी ध्यान हैं।

शिव और विष्णु

उपासना के प्रेमियों में इस बात पर आधुनिक युग में बहुत विवाद रहता है कि शिव और विष्णु में कौन बड़ा है? कोई विष्णु को ही परमात्मा कहकर शिव को उनके उपासक मानते हुए जीव कोटि में मानने का साहस करते हैं और कोई शिव को परतत्त्व कहकर विष्णु को उनके अनुगत, सेवक वा जीवविशेष कहने तक का पाप करते हैं। कुछ सज्जन दोनों को ईश्वर का ही रूप कहते हुए भी उनमें तारतम्य रखते हैं। वैज्ञानिक प्राक्रिया में वस्तुतः इन विवादों का अवसर ही नहीं है। यहां न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। अपने-अपने कार्य के सब प्रभु हैं। यह उपासक की इच्छा और अधिकार के अनुसार नियत है कि वह किसी रूप को अपनी उपासना के लिये चुन ले, किन्तु किसी को छोटा कहना या निन्दा करना अपने को विज्ञानशून्य घोषित करना है। अस्तु, अब क्रम से देखिये, निर्विशेष, परात्पर वा अव्यय पुरुष, जो उपासना

और ज्ञान का मुख्य लक्ष्य है, जो जीव का अन्तिम प्राप्य है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं। उसे 'वेवेष्टीति विष्णुः'—सवत्र व्यापक है, इसलिये 'विष्णु' कह लीजिये, अथवा 'शेरतेऽस्मिन् सर्वे इति शिवः'—सब कुछ उसी के पेट में है, इसलिये 'शिव' कह लीजिये। उसका कोई नाम-रूप न होते हुए भी—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च—

—इस वेदान्तसूत्र के अनुसार सभी गुण, कर्म और नाम उसके हो सकते हैं। अतएव विष्णु-सहस्र-नाम में शिव के नाम और शिवसहस्र-नाम में विष्णु के नाम आते हैं। मूलरूप में भेद है ही नहीं। यों परमशिव या महाविष्णु एक ही वस्तु है, उपासक के अधिकार वा रुचि के अनुसार उसकी भिन्न-भिन्न नाम-रूपों से उपासना होती है। अब आगे अक्षर पुरुष में आइये। यहाँ विष्णु और महेश्वर शक्ति-भेद से पृथक्-पृथक् प्रतीत होंगे, जैसा कि कहा गया है कि आदान-क्रिया के अधिष्ठाता विष्णु और उत्क्रान्ति के अधिष्ठाता महेश्वर हैं; किन्तु वस्तुतः विचार करने पर एक ही अक्षर पुरुष की दोनों कलाएँ हैं, इसलिये मौलिक भेद इनमें सिद्ध नहीं होता। आदान और उत्क्रान्ति दोनों एक ही गति के भेद हैं। गति यदि केन्द्राभिमुख हो तो 'आदान' कहलाती है और यदि केन्द्र से विपरीत दिशा में अर्थात् पराङ्मुखी हो तो 'उत्क्रान्ति' कहलाती है। इस प्रकार एक ही गति के दिग्भेद से दो विभेद हैं, तब वास्तविक भेद कहाँ रहा? नाम मात्र का ही तो भेद है। एक कवि ने बड़ी सुन्दरता से कहा है—

उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययतो भिन्नवद्भाति।
कलयतु कश्चन मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम्॥

व्याकरण के अनुसार हरि और हर दोनों शब्द एक ही 'हृ' धातु से बनते हैं, अतः प्रकृति (मूल) दोनों में एक है, केवल प्रत्यय अलग-अलग हैं, तब इनका भेद मानना शास्त्र से अनभिज्ञों का ही काम है। दूसरा अर्थ श्लोकका यह है कि दोनों की प्रकृति एक है अर्थात् मूलतत्त्व रूप से दोनों एक हैं, केवल प्रत्यय-प्रतीति बाहरी दृष्टि से भेद हो रहा है। यह भेद शास्त्र-दृष्टिवालों को कभी प्रतीत नहीं होता। अतएव उत्क्रान्ति

का नेता 'इन्द्र' कहलाता है तो आदान का 'उपेन्द्र' (दूसरा इन्द्र)। विष्णु का दूसरा नाम 'उपेन्द्र' भी है।

कुछ सज्जन शिव को संहार कर्ता कह कर उपासना के अयोग्य मानते है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से यह भी तर्क नहीं ठहरता। इस अक्षर पुरुष के निरूपण में स्पष्ट कर चुके हैं कि एक दृष्टि से जो संहार है, दूसरी अपेक्षा से वही उत्पादन वा पालन है। नाममात्र का भेद है, वास्तविक भेद इसमें भी नहीं है। इसके अतिरिक्त संहार भी तो ईश्वर का ही काम है और वह अवश्यम्भावी है। समय पर उत्पादन और पालन जैसे नियत है, वैसे ही संहार भी नियत है। तीनों कार्य ईश्वर के द्वारा ही होते हैं। यदि एक ही शक्ति तीनों कार्यों की करने वाली न मानी जाय तो बड़ा युक्ति विरोध आजायगा। संहार करने वाला कोई और है, तो वह पालक से जबर्दस्त कहा जायगा, क्योंकि उसके पालित को वह नष्ट कर देता है। फिर संहारक ही ईश्वर कहलायगा पालक नहीं। इसके अतिरिक्त जिसने सबका संहार किया वही तो अन्त में शेष रहेगा, फिर सृष्टि के समय सृष्टि भी वही करेगा। दूसरा रूप है ही कहां, जो सृष्टि करे? इन सब कुतर्कों का समाधान तभी होता है जब कि एक ही ईश्वर के कार्यापेक्षा से तीनों रूप मानें जाँय, उनमें भेद न माना जाय। जिस समय जिस रूप या शक्ति की आवश्यकता होती है, उस समय वह प्रकट हो जाता है, तत्व एक ही है। फिर भी कहा जाय कि तत्व चाहे एक हो, किन्तु संहार-कारक रूप से हमें ध्यान नहीं करना चाहिये, तो यह युक्ति भी निःसार है। रूपों के उपासक अपने उपास्य में उसकी शक्तियों का ध्यान करते हैं। विष्णु के उपासक भी उनको उत्पादक, पालक और संहर्ता तीनों कहते हैं और शिव के उपासक भी ऐसा ही कहते हैं। कोई भी शक्ति न मानने से ईश्वर में न्यूनता आ जायेगी। ईश्वर का काम यथाकाल सब कार्य करना है, काल में संहार अभीष्ट ही है। क्या संहार का ध्यान न करने वालों का संहार न होगा? फिर महेश्वर तो केवल संहारक हैं भी नहीं, तीन अक्षर कलाओं की समष्टि को महेश्वर बताया गया है, इनमें अग्नि और सोम ही तो सब जगत् के उत्पादक हैं, इसलिए यह उत्कर्षापकर्ष की कल्पना कोरी कल्पना ही है। कुछ सज्जन शिव को तमोगुणी कहकर उपासना के अयोग्य ठहराने का साहस करते हैं,

किन्तु यह भी साहसमात्र ही है। शिव ईश्वर हैं, वे तमोगुण के वश में तो हो ही नहीं सकते। ईश्वर और जीव में यही तो भेद है कि जीव प्रकृति के वश में है और ईश्वर प्रकृति का नियन्ता है। तव शिव तमो-गुणी हैं, इसका अभिप्राय यह होगा कि वे तमोगुण के नियन्ता हैं। तो फिर सत्त्वगुण के नियमन करने की अपेक्षा तमोगुण के नियमन करने का कार्य कितना कठिन है और वैसा कार्य करने वाला रूप और भी उत्कृष्ट है कि नहीं, इसका विचारशील स्वयं निर्णय करें।

वस्तुतः तमोगुण 'आवरक' कहलाता है, भूतों की उत्पत्ति तमोगुण से ही मानी जाती है और वैज्ञानिक प्रक्रिया में भूतों उत्पादक अग्नि और सोम हैं। इन अग्नि और सोम के अधिनायक महेश्वर हैं, इसलिए उन्हें तमोगुण का अधिष्ठाता कहा गया है। इससे उपास्यता में कोई हानि नहीं। उपासक उन्हें तमोगुण के नियन्ता कहकर उपासना करते हैं, अतएव परम वैराग्यवान्, अत्यन्त शान्त, विषय निर्लिप्त रूप में वे उनका ध्यान करते हैं, इससे उपासकों में तमोगुण की वृद्धि होगी, इसकी लेशनः भी सम्भावना नहीं। तमोगुण के नियन्ता वे भी हो जायेंगे।

अब प्राकृत स्वयम्भू आदि मण्डलों पर विचार कीजिये। यहां भी एक दृष्टि से एक की व्याप्ति न्यून रहती है, तो दूसरी दृष्टि से दूसरे की। विष्णु यज्ञस्वरूप हैं, और यज्ञ द्वारा ही रुद्र आदि सब देवता उत्पन्न होते हैं, यज्ञ के आधार पर ही सब देवताओं की स्थिति है। रुद्र शिव का रूप इसलिए कहा जा सकता है कि शिव विष्णु के उदर में हैं, उनसे उत्पन्न होते हैं। किन्तु दूसरी दृष्टि से अग्नि प्रधान मण्डल मनुष्य रूप है, उस मण्डल में सौर जगत के अन्तर्गत यज्ञमय विष्णु हैं। सौर-जगत् में जो यज्ञ हो रहा है उसी से हमारा जीवन है और 'यज्ञो वै विष्णुः', यज्ञ ही विष्णु का रूप है, इस दृष्टि से शिव या रुद्र के पेट में विष्णु रहे। अब आगे बढ़िये, सूर्य का उत्पादक यज्ञ परमेष्ठि मण्डल में होता है, अतएव वह मण्डल विष्णु प्रधान कहा गया है। उस मण्डल के उदर में सूर्यमण्डल आ जाता है, इससे विष्णु के उदर में शिव का अन्तर्भाव हुआ। और आगे चलें तो परमेष्ठिमण्डल स्वयम्भूमण्डल के अन्तर्गत रहता है, स्वयम्भूमण्डल आग्नेय होने के कारण रुद्र का या अग्नि के नियन्ता महेश्वर का मण्डल कहा जा सकता है, यह भी विस्तार से

निरूपित हो चुका है। स्वयम्भूमण्डल के अन्तर्गत एक वाचस्पति तारा है, वह श्रुति में इन्द्र माना गया है और इन्द्र महेश्वर के रूप के अन्तर्गत है। उस मण्डल की व्याप्ति में परमेष्ठिमण्डल के अन्तर्भूत रहने के कारण फिर शिव के उदर में विष्णु आ गये। इसीलिए स्पष्ट कहा गया है—

शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोस्तु हृदयं शिवः।

सब जिसके अन्तर्गत हैं, वह परमाकाश सर्वरूप है। उसे परमशिव कह लीजिये या महाविष्णु। इसलिये इस दृष्टि से भी कोई भेद या छोटा-बड़ापन सिद्ध नहीं होता।

अब आगे जो हमने विश्वचर रूप ईश्वर का बताया है, वह विष्णु भी कहा जा सकता है और शिव भी। विष्णु का वर्णन भी पृथिवी पाद, सूर्य-चन्द्रमा नेत्र इत्यादि रूप से ही मिलता है और शिव का भी वैसा ही वर्णन हम लिख चुके हैं। जिस प्रकार शिव की उपास्यमूर्ति में हमने सब ब्रह्माण्ड का अन्तर्भाव बताया है, वैसा ही विष्णुमूर्ति का रहस्य विवरण भी विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत आदि में मिलता है। इसमें केवल इतना विवक्षाभेद है कि जगत् के तीन मूल हैं, ज्ञान, क्रिया और अर्थ। इनका समुदाय ही जगत् है। इनमें क्रिया को 'यज्ञ' कहते हैं और यज्ञ विष्णु का रूप बताया गया है। इससे क्रिया प्रधान रूप से, कुर्वद्रूपता में, जिसमें बराबर कार्य हो रहा है, यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति बनायी जाय तो वह विष्णु की मूर्ति होगी और ज्ञान की प्रधानता, प्रशान्त भाव में यदि ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति बनायी जाय तो वह शिवमूर्ति कही जायगी। उपासना का विष्णु से और ज्ञान काण्ड का शिव से सम्बन्ध है, क्योंकि उपासना क्रियारूप है। महेश्वर की उपासना भी ज्ञान प्राप्ति के लिए ही मानी गयी है, 'ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत्।' ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी प्रथम भूमिकाओं में निदिध्यासन आदि क्रियाओं की मुक्ति के लिये आवश्यकता रहती है, इसलिए 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्' मान लिया गया। ज्ञान बिना अर्थ के नहीं रहता, वही अर्थ का धारक है, इसलिए विद्वानों की उक्ति है कि—

शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थजातमशेषं च धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥

'सब अर्थों के धारण करने वाले बालेन्दु-मुकुट भगवान् शङ्कर हैं।'

इस दृष्टि में भी अर्थ मुख्य है या यज्ञ—इसका निर्णय कोई नहीं कर सकता। यज्ञ से अर्थ बनते हैं, अर्थ होने पर ज्ञान होता है और ज्ञान से क्रिया या यज्ञ होता है, बिना अर्थ के भी यज्ञ नहीं हो सकता। यों दोनों रूप परस्पर सापेक्ष रहते हैं, विवक्षाभेद से कोई किसी को प्रधान मान ले। वस्तुतः यज्ञ और अर्थ एक ही मूल से निकले हैं—अतः एक ही हैं।

यों वैज्ञानिक भाव में किसी भी दृष्टि से हरि और हर का मौलिक भेद या छोटा-बड़ापन सिद्ध नहीं हो सकता। केवल दृष्टि भेद है। उसमें उपासक के अधिकार और रुचि के अनुसार किसी भी रूप में प्रधान दृष्टि की जा सकती है। पुराणादि में जो कहीं किसी की और कहीं किसी की प्रधानता लिखी है, वह भी उस अधिकारी का मनोभाव उस रूप में दृढ़ करने के लिए, उसी रूप में 'ब्रह्मदृष्टि' कराने के उद्देश्य से है, किसी के वास्तविक उत्कर्ष का कहीं भी तात्पर्य नहीं।

न हि निन्दा निन्द्यान् निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्।

'निन्दा निन्दनीय की निन्दा के उद्देश्य से नहीं होती, अपितु स्तुत्य की स्तुति के उद्देश्य से होती है'—यह मीमांसा का न्याय भी इसी के अनुकूल है।

मनुष्याकारधारी शिव

आरम्भ में कहा गया था कि शास्त्रों में ईश्वर का दो भावों में वर्णन है, वैज्ञानिक रूप और मनुष्याकार से। वे मनुष्याकार ईश्वर के सगुण रूप अवतार कहे जाते हैं। वैज्ञानिक निरूपण में और इन मनुष्याकारधारी ईश्वररूपों के चरित्रों में आश्चर्यजनक सादृश्य देखा जाता है। अतएव आर्यशास्त्रों का विश्वास है कि उपासकों पर अनुग्रह के कारण ईश्वर मनुष्य रूप ग्रहण करता है। पृथिवी में भी एक त्रिलोकी है। कारणावतपर्वत, जिससे इरावती नदी निकलती है, उसके उत्तर का प्रदेश भूस्वर्ग (त्रिविष्टप) कहलाता है, उसके 'इन्द्रविष्टप', 'विष्णुविष्टप', 'ब्रह्मविष्टप' आदि विभाग भी पुराणादि में सुप्रसिद्ध है। आर्य सभ्यता के प्राधान्य काल में इस प्रदेश में सब वैज्ञानिक

देवताओं के समान ही संस्था प्रचलित थी। एक भगवान् शङ्कर का मनुष्यरूप भी है। वह लक्ष्यालक्ष्यरूप है, कभी कार्यकाल में प्रकट होता है और कभी अलक्षित रहता है। इसी प्रकार के वर्णन इस रूप के पुराणों में हैं। इसे शिवावतार कह सकते हैं। समय-समय पर इन शङ्कर भगवान् की तीन स्थानों पर स्थिति बतायी गयी है। प्रथम भद्रवट स्थान में जो कि कैलास से पूर्व की ओर लौहित्यगिरि के ऊपर है, ब्रह्मपुत्रा नदी उसके नीचे होकर बहती है। दूसरा स्थान कैलास पर्वत पर और तीसरा मूजवान् पर्वत पर। इन शङ्कर के गण, भूत आदि का निवास हिमालय और हेमकूट के दरों में बताया गया है। ये शङ्कर भगवान् भी पूर्ण वैराग्य रत, आत्मसंयमी हैं। काशी खण्ड में एक कथा है कि इन शङ्कर भगवान् ने अपना सारा राज्य मानसरोवर पर विष्णु भगवान् को दे दिया और स्वयं विरक्त होकर एकान्त में रहने लगे। देवताओं के कार्य के लिए, स्वामी कार्तिकेय की उत्पत्ति के लिए पार्वती विवाह करने को या त्रिपुरासुर का वध करने को, ऐसे ही अन्यान्य समयों में देवताओं की प्रार्थना पर ये प्रकट होते रहे हैं। पार्वती-विवाह, त्रिपुर वध आदि की कथाएं इनकी बड़ी रोचक और आर्य सभ्यता के युग में पदार्थ-विज्ञान का अद्भुत महत्त्व प्रकट करने वाली हैं।

—:०:—